विवेक-ज्योति

वर्ष ४२ अंक ९ सितम्बर २००४ मूल्य रु. ६.००

मंगल कामना

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुखःभाग्भवेत्॥
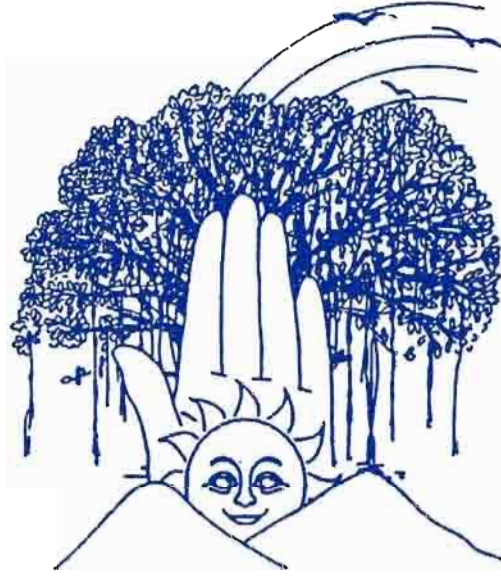
सब सुखी हों।

सब रोगरहित हों।

सब कल्याण का साक्षात्कार करें।

दुःख का अंश किसी को भी प्राप्त न हो।

URJA © 545862

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

सितम्बर २००४

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४२
अंक ९

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषय पर रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। ऐसी हो कि पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी सलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि किसी पिछले अंक से बनना हो, तो सूचित करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें – 'नया सदस्य'।

(३) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ५/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें न भेजें।

(६) सदस्यता-शुल्क की राशि का बैंक-ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से ही बनवायें।

(७) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वर्ष ४२ सितम्बर २००४ अंक ९

वैराग्य-शतकम्

ब्रह्मज्ञानविवेकनिर्मलधियः कुर्वन्त्यहो दुष्करं
यन्मुञ्चन्त्युपभोगभाञ्ज्यपि धनान्येकान्ततो निःस्पृहाः।
संप्राप्तान्न पुरा न संप्रति न च प्राप्तौ दृढप्रत्यया-
न्वाञ्छामात्रपरिग्रहानपि परं त्यक्तुं न शक्ता वयम्।।१३।।

अर्थ – ब्रह्मज्ञान के विवेक से जिनका चित्त शुद्ध हो चुका है, अहो ! कितना कठिन कर्म किया करते हैं वे कि पूर्णतः कामनाशून्य होकर उपभोग करने योग्य धन-सम्पदा आदि का भी त्याग कर देते हैं; दूसरी ओर हम लोग पहले से अप्राप्त और न वर्तमान में उपलब्ध, पूर्ण सम्भावना से रहित मन की कल्पना मात्र से पकड़ी हुई वस्तुओं को भी त्यागने में बिल्कुल भी समर्थ नहीं हैं।

धन्यानां गिरिकन्दरेषु वसतां ज्योतिः परं ध्यायता-
मानन्दाश्रुकणान् पिबन्ति शकुना निःशङ्कमङ्केशयाः।
अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतट-
क्रीड़ाकाननकेलिकौतुकजुषामायुः परं क्षीयते।।१४।।

अर्थ – धन्य हैं वे लोग, जो निर्जन पर्वत की कन्दराओं में बैठकर परम ज्योति-रूप ब्रह्म का ध्यान करते हैं, पक्षी जिनकी गोद में निर्भय बैठकर उनके आनन्दाश्रु का पान करते रहते हैं; परन्तु हमारा जीवन तो केवल कल्पना-लोक में ही रचित अट्टालिकाओं या जलाशय के तट पर स्थित क्रीड़ा-कानन में विहार करते हुए ही बीत गया।

– भर्तृहरि

भजन-गीति

– १ –

(गजल–कहरवा)

रहूँ चाहे जहाँ भी मैं, तुम्हारा विस्मरण ना हो।
कृपा के साथ में अपने, मुझे रख लो जहाँ चाहो।।

नरक में स्वर्ग में अथवा, इसी जग में जनम फिर हो,
तुम्हारे ही पदों में चित्त, मेरा सर्वदा थिर हो।।

बनूँ राजा चलाऊँ देश, या भटकूँ भिखारी हो,
यही बस अर्ज है मुझ पर, दया-करुणा तुम्हारी हो।।

रहूँ सुखमग्न या दुख में, प्रशंसित या प्रताड़ित हो,
सहज ही सह सकूँगा सब, तुम्हारा यदि सहारा हो।।

हो मंजिल दूर ही चाहे, नहीं परवाह है मुझको,
तुम्हीं जब खे रहे कश्ती, तो तुफाँ ही किनारा हो।।

– २ –

(वैरागी–कहरवा)

जीवन बीता भजन बिना,
पथ सम्बल कुछ संचय कर ले,
अब भी थोड़ा सोच मना ।।

मोह-जाल में तू भरमाया,
प्रभु चरणों में चित न लगाया,
कुछ भी काम नहीं आएगा,
खुद ही देख भला अपना ।।

क्षणभंगुर है नाम-धाम-पद,
स्वजन-बन्धुगण सुत-वित-सम्पद,
टूटेगा थोड़े ही दिन में,
माया का झूठा सपना ।।

काल निकट आता है प्रतिपल,
रख दे अपना छल-बल-कौशल,
तज 'विदेह' भव-तृष्णा सारी,
प्रभु का मधुर नाम जपना ।।

– *विदेह*

शिक्षा का रहस्य

स्वामी विवेकानन्द

शिक्षा का अर्थ है – उस पूर्णता की अभिव्यक्ति, जो सब मनुष्यों में पहले ही से विद्यमान है।

शिक्षा किसे कहते हैं? क्या वह पठन-मात्र है? – नहीं। क्या वह नाना प्रकार का ज्ञानार्जन हैं? – नहीं, वह भी नही। जिस संयम के द्वारा इच्छा-शक्ति का प्रवाह और विकास वश में लाया जाता है और वह फलदायक होता है, वह शिक्षा कहलाती है। अब सोचो कि शिक्षा क्या वह है, जिसने निरन्तर इच्छा-शक्ति को बलपूर्वक पीढ़ी-दर-पीढ़ी रोककर प्राय: नष्ट कर दिया है, जिसके प्रभाव से नये विचारों की तो बात ही छोड़ो, पुराने विचारों का भी एक-एक करके लोप होता जा रहा है; क्या वह शिक्षा है, जो धीरे-धीरे मनुष्य को यंत्र-बना रही है?

वास्तविक शिक्षा की तो अभी हम लोगों में कल्पना भी नहीं की गयी है। हम इसे मानसिक शक्तियों का विकास – केवल शब्दों का रटना नहीं – या व्यक्तियों को उचित प्रकार से और दक्षतापूर्वक इच्छा करने का प्रशिक्षण देना कह सकते हैं।

बालक स्वयं ही अपने को शिक्षित करता है। तुम मेरी बातें सुनने आये हो। घर जाकर, तुमने जो यहाँ सीखा है तथा यहाँ आने के पूर्व तुम्हारे मन में जो था, उन दोनों का मिलान करो। तब तुमको पता लगेगा कि यही बात तो तुमने भी सोची थी; मैंने तो केवल उस बात को प्रकट मात्र किया है। मैं तुमको किसी बात की शिक्षा नहीं दे सकता। शिक्षा तो तुम स्वयं ही अपने को दोगे। मैं तो शायद तुमको तुम्हारे अपने उस विचार के प्रकट करने में सहायता ही दे सकूँ।

कोई भी किसी को कुछ नहीं सिखा सकता। जो शिक्षक यह समझता है कि वह कुछ सिखा रहा है, सारा गुड़-गोबर कर देता है। वेदान्त का सिद्धान्त है कि **मनुष्य के अन्तर में – एक अबोध शिशु में भी ज्ञान का सम्पूर्ण भण्डार निहित है** – केवल उसको जाग्रत कर देने की आवश्यकता है, और आचार्य का यही काम है। हमें बच्चों के लिए बस इतना ही करना है कि वे अपने हाथ-पैर, आँख-कान का समुचित उपयोग करना भर सीख लें और बाकी सब आसान है।

क्या तुमने उपनिषदों की कथाएँ नहीं पढ़ी हैं? एक कथा सुनाता हूँ। ब्रह्मचारी सत्यकाम गुरु के पास अध्ययन के लिए गया। गुरु ने उसे गायें चराने जंगल में भेज दिया। गायें चराते-चराते कई वर्ष व्यतीत हो गये। गायों की संख्या भी दुगुनी हो गयी। तब सत्यकाम ने आश्रम लौट चलने का विचार किया। मार्ग में एक वृषभ, अग्नि तथा कुछ अन्य प्राणियों ने सत्यकाम को ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया। जब शिष्य आश्रम में गुरु को प्रणाम करने पहुँचा, तो गुरु ने उसे देखते ही जान लिया कि उसने ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लिया है। इस कथा का सार यही है कि **सच्ची शिक्षा सर्वदा प्रकृति के सम्पर्क में रहने से ही प्राप्त होती है।**

मेरे विचार से तो **मन की एकाग्रता प्राप्त करना ही शिक्षा का सार है, तथ्यों का संकलन नहीं।** यदि मुझे फिर से अपनी शिक्षा आरम्भ करनी हो और मेरा वश चले, तो मै तथ्यों का अध्ययन कदापि न करूँ। मैं अपने मन की एकाग्रता और अनासक्ति की सामर्थ्य बढ़ाऊँगा और उपकरण के पूर्णतया तैयार होने पर उससे इच्छानुसार तथ्यों का संकलन करूँगा। बच्चे में एक साथ मन की एकाग्रता और अनासक्ति की क्षमता विकसित होनी चाहिए।

कुछ उपाधियाँ प्राप्त करने या अच्छा भाषण दे सकने से ही क्या तुम्हारी दृष्टि में व्यक्ति शिक्षित हो गया! **जो शिक्षा साधारण व्यक्ति को जीवन-संग्राम में समर्थ नहीं बना सकती, जो मनुष्य में चरित्र-बल, परहित-भावना तथा सिंह के समान साहस नहीं ला सकती, वह भी कोई शिक्षा है? शिक्षा वह है, जिसके द्वारा जीवन में अपने पैरों पर खड़ा हुआ जाता है।** आज के इन स्कूल-कॉलेजों में पढ़कर तुम लोग न जाने अजीर्ण के रोगियों की कैसी एक जमात तैयार कर रहे हो। केवल मशीन की तरह परिश्रम कर रहे हो और 'जायस्व म्रियस्व' (जन्मो और मरो) वाक्य के साक्षी रूप में खड़े हो।

शिक्षा का अर्थ यह नहीं है कि तुम्हारे दिमाग में ऐसी अनेक बातें इस तरह ठूँस दी जायँ कि अन्तर्द्वन्द होने लगे और तुम्हारा दिमाग उन्हें जीवन भर पचा न सके। जिस शिक्षा से हम अपना जीवन गढ़ सकें, मनुष्य बन सकें, चरित्र-गठन कर सकें और विचारों का सामंजस्य कर सकें, वही वास्तव में शिक्षा कहलाने योग्य है। यदि तुम पाँच ही भावों को पचा कर तदनुसार जीवन तथा चरित्र गठित कर सके हो, तो तुम्हारी शिक्षा उस व्यक्ति की अपेक्षा बहुत अधिक है, जिसने एक पूरे ग्रन्थालय को कण्ठस्थ कर रखा है। कहा भी है – **यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।** अर्थात् – 'वह गधा, जिस पर चन्दन की लकड़ियों
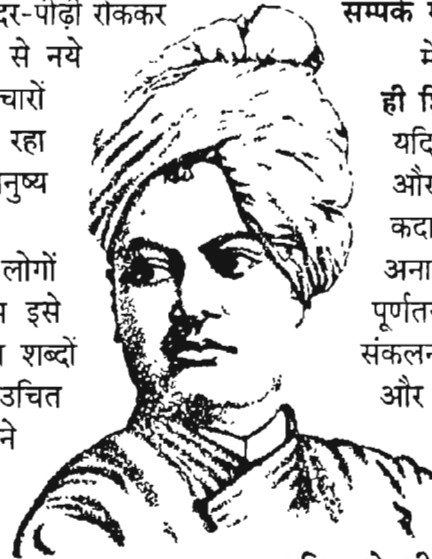
का बोझ लादा गया हो, बोझ की ही बात जान सकता है, चन्दन के मूल्य को वह नहीं समझ सकता।' यदि तरह-तरह की खबरों का संचय करना ही शिक्षा हो, तब तो ये ग्रन्थालय ही संसार के सर्वश्रेष्ठ मुनि और विश्वकोश ही ऋषि हैं।

नकारात्मक भाव मनुष्य को दुर्बल बना डालते हैं। देखते नहीं, जो माता-पिता दिन-रात बच्चों के लिखने-पढ़ने पर जोर देते रहते हैं, कहते हैं, 'इसका कुछ सुधार नहीं होगा, यह मूर्ख है, गधा है', आदि आदि – उनके बच्चे अधिकांश वैसे ही बन जाते हैं। बच्चों को 'अच्छा' कहने से और प्रोत्साहन देने से समय आने पर वे स्वयं ही अच्छे बन जाते हैं। जो नियम बच्चों के लिए हैं, वे ही उन लोगों के लिए भी हैं, जो उच्च विचारों के क्षेत्र में उन शिशुओं की तरह हैं। यदि जीवन के सकारात्मक भाव उत्पन्न किये जा सकें, तो साधारण व्यक्ति भी मनुष्य बन जायगा और अपने पैरों पर खड़ा होना सीख सकेगा।

भाषा, साहित्य, दर्शन, कविता, शिल्प आदि विविध क्षेत्रों में मनुष्य जो प्रयत्न कर रहा है, उसमें वह अनेक गलतियाँ करता है। **आवश्यक यह है कि हम उसे उन गलतियों को न बतलाकर, धीरे-धीरे प्रगति के मार्ग पर अग्रसर होने में सहायता दें।** गलतियाँ दिखाने से लोगों की भावना को ठेस पहुँचती है और वे हतोत्साहित हो जाते हैं। हमने श्रीरामकृष्ण को देखा है – जिन्हें हम त्याज्य मानते थे, उन्हें भी वे प्रोत्साहित करके वे उनके जीवन की गति को मोड़ देते थे। शिक्षा देने का उनका ढंग ही बड़ा अद्भुत था।

ज्ञान मनुष्य में अन्तर्निहित है। कोई भी ज्ञान बाहर से नहीं आता, सब भीतर ही है। हम जो कहते हैं कि व्यक्ति 'ज्ञान प्राप्त करता' है, उसे ठीक-ठीक मनोवैज्ञानिक भाषा में व्यक्त करना हो तो कहना चाहिए कि वह 'आविष्कार करता' है। **मनुष्य जो भी 'सीखता' है, वह वस्तुतः 'आविष्कार करना' ही है।** 'आविष्कार' का अर्थ है – मनुष्य का अपनी अनन्त ज्ञानस्वरूप आत्मा के ऊपर से आवरण को हटा लेना। हम कहते हैं कि न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण के नियम का आविष्कार किया।'तो क्या वह आविष्कार कहीं एक कोने में बैठा हुआ न्यूटन की प्रतीक्षा कर रहा था? वह उसके मन में ही था। समय आया और उसने उसे ढूँढ़ निकाला।

संसार को जो भी ज्ञान मिला है, वह मन से ही निकला है। विश्व का असीम पुस्तकालय तुम्हारे मन में ही विद्यमान है। बाह्य जगत् तो तुम्हें अपने मन के अध्ययन में लगाने के लिए उद्दीपक तथा अवसर मात्र है; परन्तु तुम्हारे अध्ययन का विषय सर्वदा तुम्हारा मन ही रहता है। सेव के गिरने ने न्यूटन को उद्दीपन प्रदान किया और उसने अपने मन का अध्ययन किया। उसने अपने मन में पूर्व से ही स्थित विचार-शृंखला की कड़ियों को एक बार फिर से विन्यस्त किया तथा उनमें एक नयी कड़ी का आविष्कार किया। उसी को हम गुरुत्वाकर्षण का नियम कहते हैं। यह न तो सेव में था और न पृथ्वी के केन्द्र में स्थित किसी अन्य वस्तु में।

समस्त ज्ञान, चाहे वह व्यावहारिक हो अथवा पारमार्थिक, मनुष्य के मन में ही निहित है। बहुधा यह प्रकाशित न होकर ढँका रहता है और जब आवरण धीरे-धीरे हटता जाता है, तो हम कहते हैं कि 'हमें ज्ञान हो रहा है'। ज्यों-ज्यों इस आविष्करण की क्रिया बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों हमारे ज्ञान में वृद्धि होती जाती है। जिस मनुष्य पर से यह आवरण उठता जा रहा है, वह अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक ज्ञानी है, और जिस मनुष्य पर यह आवरण तह-पर-तह पड़ा है, वह अज्ञानी है। जिस मनुष्य पर से यह आवरण बिल्कुल चला जाता है, वह सर्वज्ञ पुरुष कहलाता है।

जैसे चकमक पत्थर के टुकड़े में अग्नि निहित रहती है, वैसे ही मनुष्य के मन में ज्ञान रहता है। उद्दीपना घर्षण का कार्य करके उसको प्रकट कर देती है।

वास्तव में कभी कोई व्यक्ति किसी दूसरे को नही सिखाता, हममें से प्रत्येक को अपने आपको सिखाना होगा। बाहर के गुरु तो केवल उद्दीपक मात्र हैं, जो हमारे अन्तस्थ गुरु को सब विषयों का मर्म समझने के लिए उद्‌बोधित कर देते हैं।

तथ्यों से मन को भर देना ही शिक्षा नहीं है। (शिक्षा का आदर्श है) साधन को योग्य बनाना और अपने मन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना। यदि मैं किसी विषय पर मन को केन्द्रित करना चाहूँ, तो उसे वहाँ जाना चाहिए और जिस क्षण कहूँ, वह पुनः वहाँ से वापस लौट आय।

शिक्षा से मेरा तात्पर्य आधुनिक प्रणाली की शिक्षा से नहीं, वरन् ऐसी शिक्षा से है, जो सकारात्मक हो और जिससे स्वाभिमान तथा श्रद्धा के भाव जागें। केवल किताबें पढ़ा देने से कोई लाभ नहीं। हमें ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है, जिससे चरित्र-निर्माण हो, मानसिक शक्ति बढ़े, बुद्धि विकसित हो और देश के युवक अपने पैरो पर खड़े होना सीखें। आज हमें आवश्यकता है वेदान्तयुक्त पाश्चात्य विज्ञान की, ब्रह्मचर्य के आदर्श और श्रद्धा तथा आत्मविश्वास की। ❑❑❑

धनुष-यज्ञ का तात्पर्य (६/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा जनवरी २००२ ई. में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोह के समय पण्डितजी ने 'धनुष-यज्ञ' पर ७ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके ६वें प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

ज्ञान और भक्ति को लेकर परस्पर मतभेद न जाने कब से आ रहा है। परन्तु 'मानस' में कुछ प्रसंगों के माध्यम से जो संकेत तथा सन्देश दिया गया, उसे यदि हम हृदयंगम कर सकें, तो हमारे मन के अनेक भ्रम दूर हो सकते हैं।

वैसे तो निर्गुण-निराकार-विषयक चर्चा का भी बड़ा विस्तार है और सगुण-साकार की भी दिव्य कथाओं तथा लीलाओं का विस्तार तो है ही। पर इसे सूत्र रूप में कहें तो – **ज्ञान का तात्पर्य है ब्रह्म के स्वरूप को जानना और भक्ति का तात्पर्य है उसे अपनी रुचि के अनुरूप देखना**। इन दोनों में अन्तर है और यही तत्त्व और रूचि का अन्तर है।

जनकपुर का यह प्रसंग हमारे समक्ष निर्गुण-निराकार और सगुण-साकार – ज्ञान और भक्ति के दिव्य समन्वय का स्वरूप प्रगट करता है। धनुष-यज्ञ में अगणित राजा एकत्र हुए हैं और भ्रमवश वे मान बैठे हैं कि भगवान शिव के धनुष को उठाना तथा तोड़ना उनके लिए सम्भव है। पर व्यक्ति का व्यष्टि अहंकार, क्षुद्र अहंकार क्या शिव के उस समग्र अहंकार, अखण्ड अहंकार पर विजय पा सकता है? कोई भी राजा समर्थ न था, इसलिए धनुष को उठाना या तोड़ना तो दूर की बात, कोई उसे तिल भर भी हिला तक नहीं सका।

इसके बाद का सूत्र श्रीमद्भागवत में भी और 'मानस' में भी बड़े रहस्यमय ढंग से प्रगट किया गया। वेदान्त में ब्रह्म को द्रष्टा मानते हैं, दृश्य नहीं। वह प्रकाशक मात्र है और उसमें किसी के प्रति राग या द्वेष नहीं है। वह सम है, पाप-पुण्य को न तो ग्रहण करता, न त्याग। ब्रह्म के इस निरूपण से कुछ समस्याएँ, कुछ भ्रान्तियाँ पैदा हो सकती हैं। और वह यह कि **क्या इस तत्त्वज्ञान के द्वारा मानव-जीवन में उत्पन्न होनेवाली समस्याओं का समाधान हो सकता है?** यही संकेत यहाँ पर है। जनक महान् ज्ञानी हैं, निर्गुण-निराकार-वादी हैं। भगवान भी उनकी सभा में अपने अनोखे अभिनय द्वारा वेदान्त के ही ब्रह्म का स्वरूप प्रगट करते हैं। धनुष-यज्ञ में आए हुए राजा, धनुष को तोड़ने के लिए प्रयत्नशील हैं, पर भगवान उस ओर कोई दृष्टि नहीं डालते। राजा प्रयत्न कर रहे हैं, असफल हो रहे हैं, निराश हो रहे हैं। और यदि इसे वेदान्त की भाषा में कहें, तो ब्रह्म पर उसका कोई प्रभाव दिखाई नहीं देता। व्यवहार में भी आप यहीं पाएँगे कि **ईश्वर प्रत्यक्ष रूप से किसी कार्य में हस्तक्षेप नहीं करते**। उसके सामने कोई पाप करे चाहे पुण्य, उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि वे किसी के पाप-कर्म से क्षुब्ध होते तो तत्काल आकर उसे दण्ड देते और पुण्य-कर्म से प्रसन्न होकर उसे पुरस्कार देते। वे ऐसा नहीं करते। परन्तु यदि इसका बालि जैसा अर्थ ले लें, तो वह सही दृष्टि नहीं होगी।

'मानस' में यह प्रसंग आता है – बालि और सुग्रीव में बड़ी मैत्री थी। वे भातृत्व-सम्बन्ध से जुड़े हुए थे। पर स्वार्थ की वृत्ति और भेदबुद्धि उन दोनों में एक दूरी उत्पन्न कर देती है। जो बालि सुग्रीव से अत्यन्त स्नेह करता था, वही सुग्रीव का शत्रु बन जाता है। उस प्रसंग से आप परिचित हैं। उसके पश्चात् श्री हनुमानजी के माध्यम से सुग्रीव और भगवान श्रीराम की मित्रता होती है। यहाँ पर बड़ा सुन्दर सूत्र है। श्रीकृष्ण के रूप में भी भगवान गीता (९/२९) में कहते हैं – **समोऽहं सर्वभूतेषु** – "सभी प्राणियों के प्रति मेरा समत्व भाव है" और राम-चरित-मानस में भी वे कहते हैं –

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। २/२१९/३

अब यदि इसका बालि के समान अर्थ ले लिया जाय, तो वह बड़ा घातक होगा, वह कल्याणकारी नहीं सिद्ध होगा। किष्किंधा-काण्ड में वह पंक्ति मिलती है जिसमें भक्त भगवान को सगुण-साकार रूप में देखना चाहता है और वह इसके लिए इसलिए व्यग्र है कि इससे उसकी समस्याओं का समाधान हो। अब ऐसी स्थिति में यदि व्यक्ति यह मानकर कि ब्रह्म सम है, पाप और पुण्य पर उसकी दृष्टि नहीं है, यह सोचे कि फिर हम पाप या पुण्य कुछ भी करें, क्या चिन्ता, ईश्वर तो उसे ग्रहण नहीं करता। तो बालि ने यही भूल की।

भगवान ने सुग्रीव को बालि से लड़ने को प्रेरित किया और कहा कि तुम जाकर गर्जना करके बालि को लड़ने की चुनौती दो। सुग्रीव ने गर्जना की और उस गर्जना का स्वर बालि के कानों में गया। इस पर वह क्रोध मे भरकर जब युद्ध के लिए चला, तो उस समय तारा ने बालि से यह प्रश्न किया कि यह गर्जना जो आप सुन रहे हैं, इसे सुनकर क्या आपके मन में जिज्ञासा उत्पन्न नहीं हो रही है कि जो सुग्रीव

आपके भय से सर्वदा भागता फिरता था, वही आज क्योंकर आपको लड़ने की चुनौती दे रहा है? आपको ज्ञात होना चाहिए कि सुग्रीव और श्रीराम की मित्रता हुई है। बालि को मालूम था, पर तारा ने यह नहीं कहा कि श्रीराम साक्षात ईश्वर हैं। उसने यही कहा –

सुनु पति जिन्हहि मिलेउ सुग्रीवा ।
ते द्वौ बंधु तेज बल सींवा ।।
कोसलेस सुत लछिमन रामा ।
कालहु जीति सकहिं संग्रामा ।। ४/७/२८-२९

बालि मुस्कुराने लगा। उसने तारा की ओर देखा और बोला – "क्या तुम राम को केवल एक वीर क्षत्रिय राजकुमार, केवल एक शक्तिशाली व्यक्ति ही मानती हो? नहीं, नहीं, मैं जानता हूँ, वह ब्रह्म है, ईश्वर है।" उसने श्रीराम के लिए उसी 'सम' शब्द का प्रयोग किया, जिसका गीता में भी प्रयोग हुआ है। बालि ने कहा – राम तो ब्रह्म है, सम है, तब उनसे भय की तो आवश्यकता ही नहीं है। भगवान सम हैं, इसलिए उनके मन में बालि और सुग्रीव में भेद करना सम्भव नहीं है। बालि का वाक्य है –

कहा बालि सुनु भीरु प्रिय
समदरसी रघुनाथ ।। ४/७

गीता में भगवान कहते हैं – **समोऽहम्**। 'मानस' में भगवान कहते हैं – जद्यपि सम नहिं राग न रोषु। और बालि ने भी यही कहा – रघुनाथ समदरसी हैं –

जब वे सम हैं, तो मुझमें और सुग्रीव में भेद कैसे करेंगे? समत्व का यदि यही अर्थ लिया जाय कि ईश्वर पाप और पुण्य से परे हैं, तो तत्त्वत: सत्य तो यही है; परन्तु व्यक्ति को तो पाप और पुण्य का फल भोगना पड़ेगा। मगर इस पाप-पुण्य के फल भोगने के लिए ईश्वर की कोई जरूरत नहीं है। ईश्वर को बैठकर यह देखते रहने की आवश्यकता नहीं कि कौन पाप कर रहा है तथा कौन पुण्य कर रहा है और उसी के अनुसार दण्ड और पुरस्कार दे। कर्म का फल व्यक्ति के सामने स्वयं ही आ जाता है और व्यक्ति उसे स्वीकार करने को बाध्य है। इसे समझने के लिए स्वचालित घड़ी को देखें। उस घड़ी के निर्माता ने इसका विज्ञान के आधार पर ऐसी पद्धति से निर्माण किया है कि यह अपने आप चलती रहती है, उसे चलाने के लिए रोज चाबी देने की जरूरत नहीं पड़ती। इसी प्रकार से ब्रह्म भले ही पाप-पुण्य में हस्तक्षेप न करे, पर उसने एक सूत्र दिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति को अपने आप ही कर्म का परिणाम भोगना पड़ रहा है, इसके लिए ईश्वर को हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसलिए 'मानस' में आपको वह पंक्ति मिलती है –

करम प्रधान बिस्व करि राखा ।
जो जस करइ सो तस फलु चाखा ।। २/२१९/४

आपका कर्म ही आपको दण्ड या पुरस्कार देगा, वह काम ईश्वर का नहीं है। इसलिए कर्म-सिद्धान्त तो ईश्वर के स्थान पर व्यक्ति के कर्म को महत्त्व देता है।

मुझे वर्षों तक ब्रह्मलीन स्वामी उड़िया बाबाजी के चरणों में रहने का सौभाग्य मिला। उसका एक संस्मरण बड़ा प्रेरक था। एक बार उड़ीसा में अकाल पड़ा। बाबा बड़े कोमल-हृदय के थे। उनका नाम आर्तत्राण था। वे भरसक चाहते कि जो भूखे हैं, उन्हें अन्न मिले। लेकिन अकाल के समय भूखे लोगों की संख्या इतनी बढ़ी कि एक व्यक्ति के द्वारा सबकी भूख मिटाना असम्भव था। उस समय बाबा को ख्याल आया कि पुराणों की कथा के अनुसार द्रौपदी के पास एक ऐसा पात्र था कि उसके द्वारा वे जितने भी लोग आते थे, सबको भोजन करा सकती थीं। बाबा कहते थे कि तब उनके हृदय में संकल्प उठा कि यदि वैसा ही बर्तन उन्हें मिल जाय, तो वे इन लोगों की भूख मिटावें। बाबा आसाम प्रान्त गये और वहाँ कामाख्या देवी की आराधना की। आराधना के बाद उन्हें वह बर्तन तो नहीं मिला, पर आप इसे सिद्धि, चमत्कार या मंत्र का प्रभाव कह लीजिए; उन्हें एक नई शक्ति, एक नई क्षमता मिली कि जब कोई व्यक्ति उनके दर्शन करने आता, तो उन्हें यह दिखाई देता था कि वह व्यक्ति क्या करके आ रहा है या उसके मन में क्या विचार उठ रहे हैं। जब उनमें यह क्षमता आई, तो प्रारम्भ में जो दो-चार व्यक्ति उनके पास आए और जब बाबा ने कहा – तुम यह करके आ रहे हो या यह सोच रहे हो, तो समाचार फैलते देर नहीं लगी कि "अरे, ये महात्मा जी तो बड़े सिद्ध हैं, मन की बात जान लेते हैं।" भीड़ होने लगी। माले पहनाना, भेंट देना शुरू हुआ। लोग बहुत बड़ी संख्या में आने लगे। पर बाबा के जीवन में तो एक बड़ी तात्त्विक जिज्ञासा थी। वे चिन्तित थे कि जो भी व्यक्ति हमारे सामने आवेगा, उन सबके कर्मों को, विचारों को देखकर हमारे मन में विक्षोभ होगा, तो हमारी क्या दशा होगी? उन्होंने देवी से कहा कि इस शक्ति से बढ़कर बुरा क्या होगा कि हम दिन भर देखा करें कि कौन व्यक्ति क्या करके आ रहा है, क्या सोच रहा है! देवी की कृपा से वह शक्ति चली गई। बाबा बड़े प्रसन्न हुए।

यदि ईश्वर भी यही करने बैठ जाय, तो उसकी क्या दशा होगी? अब आप इतने लोग बैठे हुए हैं और वह यह देखे कि कौन श्रोता क्या सोच रहा है, किसका मन घर में लगा हुआ है, कौन श्रद्धा लेकर आया है और कौन अश्रद्धा, तब तो ईश्वर पागल हो जाएगा। वह सब ईश्वर नहीं करता।

कर्म का फल तो प्राकृतिक रूप से ही कर्ता को मिलता है। यदि कोई विष खा ले, तो उसकी मृत्यु होगी ही, यह प्राकृतिक नियम है, उसे मारने के लिए ईश्वर को आने की आवश्यकता नहीं है। स्वस्थ रहने के नियमों का पालन करने

पर आप स्वस्थ रहेंगे। ईश्वर न तो किसी के कर्म का फल देते हैं और न ही कर्म के आधार पर अच्छे-बुरे का भेद करते हैं। इस दृष्टि से वे सम हैं। पर इस समत्व के सिद्धान्त का बालि ने जो अर्थ लिया, वह तो बड़ा अनर्थकारी है। उसने समझा कि ब्रह्म यदि सम है, तो वह मुझमें और सुग्रीव में भेद क्यों करेगा? इसका तो यह अर्थ हुआ कि आप मनमानी करने के लिए स्वतंत्र हैं और ईश्वर चुपचाप देखता रहे, भेद न करे, किसी का पक्ष न ले, हस्तक्षेप न करे और तभी आप उसे प्रमाण-पत्र देंगे कि ईश्वर सम है। तारा ने कहा – ठीक है, समत्व का सिद्धान्त तो है, पर आप तो प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि उन्होंने सुग्रीव से मित्रता की है, उसका पक्ष लिया है और उसे युद्ध के लिये भेजा है, वे स्वयं सुग्रीव के पीछे हैं।

तब बालि ने तारा से जो बात कही, वह भक्ति-भावना की सबसे ऊँची बात है। उसने कहा – "ठीक है, मैं मानता हूँ ईश्वर ने सुग्रीव का पक्ष लिया है और वे मुझे मारने आये हैं। कोई बात नहीं, मुझे इसकी कोई चिन्ता नहीं। वैसे तो उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए, भेद नहीं करना चाहिए, नहीं करेंगे तो उनका समत्व सिद्ध हो जायेगा। लेकिन ईश्वर यदि मुझे मार भी देंगे, तो मैं सनाथ हो जाऊँगा –

जौं कदाचि मोहि मारहिं
तौ पुनि होउँ सनाथ ।। ४/७

यह तो भक्ति-सिद्धान्त की अन्तिम कक्षा की बात है न! **भक्त मानता है कि ईश्वर जो भी करता है, वह मंगलमय है।** अब ऐसी स्थिति में लगता है कि बालि के जीवन में ज्ञान और भक्ति का दिव्य स्वरूप विद्यमान है। इसे सुनकर किसी से नहीं रहा गया होगा और गोस्वामी जी से कह दिया – बालि के इतने ऊँचे विचार हैं, इतनी ऊँची भावना है, अत: ऐसे समय में आप उसे कोई उपाधि तो दे दीजिए। बालि को आप महान् ज्ञानी कहेंगे कि महान् भक्त? पर गोस्वामी जी ने उसके लिए बड़े कठोर शब्द का प्रयोग किया। उन्होंने कहा – न तो वह ज्ञानी है, न भक्त। – तो क्या है? उन्होंने कहा – सत्य तो यह है कि वह महा-अभिमानी है –

अस कहि चला महा अभिमानी । ४/८/१

केवल मुँह से ज्ञान की बड़ी ऊँची बातें कह देना ही ज्ञानी होने का लक्षण नहीं है और भक्ति-भावना के साथ – भगवान कृपालु हैं, भगवान मंगलमय हैं – ये शब्द दुहराते रहने से भी क्या होगा! अन्त में आप देखते हैं कि भगवान ने बालि पर प्रहार किया। अब इसे किष्किंधा-काण्ड के उस दृश्य से जोड़िए। वहीं पर मानो **भक्तों ने निर्गुण-निराकार को सगुण-साकार के रूप में देखने की अभिलाषा प्रगट की।** ईश्वर जब व्यक्ति के रूप में सामने आयेगा और जिसकी प्रेरणा या भावना से आयेगा, जिस लक्ष्य को पूरा करने के लिये उसे बुलाया गया है, वह उसे पूर्ण करना है। निगुण-निराकार ब्रह्म जहाँ पर कूटस्थ और द्रष्टा है, वहीं पर भक्तों का भगवान भक्तों की इच्छा पूर्ण करता है। इसीलिए उनका अवतार हुआ है और बालि पर प्रहार करके भगवान उसे बता देते हैं कि 'सम' का वह अर्थ नहीं है, जिसके द्वारा तुम अपने पाप एवं अभिमान का समर्थन करो।

भक्तों ने सगुण-साकार सिद्धान्त के पक्ष में जो निरूपण किया, उसे 'मानस' में बहुत व्यावहारिक रूप दिया गया है। श्रीमद्भागवत में और सूरदास जी के पदों में भी यह रूप है। श्याम सुन्दर मथुरा में निवास कर रहे हैं और गोपियाँ उनके वियोग में व्याकुल हैं। श्रीकृष्ण ब्रह्म हैं और गोपियाँ अत्यन्त भावुक तथा अनुरागमयी हैं। वे श्रीकृष्ण से प्रेम करती हैं। श्रीकृष्ण ने कह दिया – आऊँगा, पर आये नहीं। तब उन्होंने सोचा कि इन गोपियों को इस समय ज्ञान की जरूरत है। यदि वे यह मानकर चलेंगी कि श्रीकृष्ण मेरे प्रिय हैं और मैं उनसे दूर हूँ, तब तो उनका दु:ख दूर नहीं होगा, अत: उन्होंने उद्धवजी को दूत बनाकर भेजा। उद्धवजी के ज्ञान और वेदान्त के संस्कार थे। उन्होंने गोपियों को समझाने की चेष्टा की, पर गोपियों का भोलेपन से भरा एक ही प्रश्न था – "आप जो कहते हैं कि उस ईश्वर का न हाथ है, न पैर है, तो ऐसा ईश्वर तो हमारे किसी काम का नहीं है। यहाँ पर जो ईश्वर था, उसके तो हाथ थे, उससे हम अपनी गाय दुहवाया करती थीं। अब आप कहते हैं कि उसके हाथ नहीं हैं, तो हमारी गाय कौन दूहेगा? हम तो उसे छाँछ के लिये नचाया करती थीं और तुम कहते हो कि उसके पैर ही नहीं हैं, तो अब वह कैसे नाचेगा? अब तो वह किसी काम का नहीं रह गया।"

इसका अभिप्राय यह है कि तत्त्वज्ञान में जो ईश्वर का स्वरूप है, वह तो है, पर व्यावहारिक दृष्टि से हमारी जो आकांक्षाएँ हैं, समस्याएँ हैं, उनका समाधान नहीं होगा। जो नि:स्वार्थ, निष्काम भाव से केवल उसके स्वरूप ज्ञान के लिये व्यग्र हैं, उनके लिये तो उसमें स्थित होना स्वाभाविक है, पर एक भक्त की आकांक्षा तो उससे पूर्ण नहीं होगी। इसीलिये भक्तिशास्त्र में यह वर्णन आता है कि यद्यपि उद्धव गोपियों को प्रारम्भ में श्रीकृष्ण के तात्त्विक स्वरूप का उपदेश देते हैं, पर अन्त में स्वयं रस एवं भावना का – भक्ति का उद्रेक लेकर मथुरा लौटे।

इसका अभिप्राय है कि **जीवन में ज्ञान और भक्ति – दोनों का सामंजस्य जरूरी है।** 'मानस' में इसी का वर्णन किया गया है। यह जो धनुष-यज्ञ का प्रसंग है या जनकपुर का जो पूरा प्रसंग है, यह क्या है? जनक-नन्दिनी सीताजी और श्रीराम का विवाह। श्रीराम तत्त्वत: ब्रह्म हैं और सीताजी साक्षात् उनकी अभिन्न शक्ति हैं –

गिरा अरथ जल बीचि सम
कहिअत भिन्न न भिन्न । १/१८

तत्त्वत: तो वे अभिन्न हैं। विवाह तो दो अलग अलग व्यक्तियों का होता है। ब्रह्म का विवाह कैसा? पर उसको जब आप इस दृष्टि से देखें कि गोस्वामी जी ने उनको जो नाम दिया, वह बड़ा सुन्दर है। उन्होंने कहा – सीताजी तो मानो साक्षात् मूर्तिमती भक्ति हैं और श्रीराम साक्षात् ज्ञान –

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।
भगति ग्यान बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर।। २/३२१

जैसे ज्ञान और भक्ति अलग-अलग दिखाई देते हुए भी, दोनों की अपेक्षा है, वैसे ही विवाह का अभिप्राय है कि हमारे जीवन में ज्ञान और भक्ति के मिलन की और उसके दिव्य आनन्द की अनुभूति हो सके। अब इस प्रसंग को हम इस रूप में देखें कि भगवान ने वेदान्त-निष्ठ जनक को यह दिखा दिया कि तुम **जिस ब्रह्म का द्रष्टा या कूटस्थ रूप में वर्णन कर रहे हो, यह लीला भी उसी की है**। तुमने तत्त्व-ज्ञान का उपदेश दिया और तुम्हारे नगरवासी भी उसे मानते हैं, पर अब रो क्यों रहे हो? भाई, आप तो बड़े जोर-शोर से कहते हो कि शरीर तो मिथ्या है, पर जब दर्द होता है, तब आप रोते हैं या नहीं? मिथ्या है तो रो क्यों रहे हो?

आपने भगवान श्रीरामकृष्ण की जीवनी से सुना होगा। वे तो बड़े ही अद्भुत थे। उन्होंने तो सचमुच उस तत्त्व और रुचि को अपनी लीला के द्वारा प्रगट करके दिखाया। उनके जीवन का यह प्रसंग बड़ा मधुर है। उनके हाथ में दर्द हो रहा था और जैसे बच्चा दर्द होने पर अपनी माँ को पुकारता है, वे 'माँ-माँ' कहकर रो रहे थे। उनके सेवक हृदयराम, जो उनके भांजे भी थे, उन्हें मालूम था कि बंगाल के कुछ विशिष्ट विद्वान् लोग श्रीरामकृष्ण के दर्शन करने आ रहे हैं। हृदय को चिन्ता हो गई कि यदि उन लोगों ने श्रीरामकृष्ण को रोते देख लिया, तो क्या होगा? **चेलों को बड़ी चिन्ता रहा करती है कि हमारे गुरुजी को असली रूप में कोई न देख ले**। वैसे उनका भाव बुरा नहीं होता, पर उसको लगता है कि ऐसी स्थिति में देखेंगे तो शायद उतनी श्रद्धा नहीं होगी। वे सोचते हैं कि एक कल्पित रूप देने में हमारे गुरु की महिमा बढ़ेगी। हृदय ने भगवान श्रीरामकृष्ण से कहा – "देखिए, अभी इतने बड़े-बड़े लोग आ रहे हैं, अमुक आ रहे हैं, अमुक आ रहे हैं, ठीक है कि आपको दर्द हो रहा है, पर थोड़ी देर के लिए तो आप रोना बन्द कर दीजिए, आँसू पोंछ लीजिए, जब वे चले जाएँगे, तो रो लीजिएगा।" यह शिष्य की धारणा है, कठिनाई मानो यही है, रहीम ने कहा है –

अब रहीम मुश्किल पड़ी, गाढ़े दोऊ काम।
सांचे को तो जग नहीं, झूठे मिले न राम।।

पर भगवान श्रीरामकृष्ण की लीला तो अद्भुत थी। पहले तो उन्होंने हृदय की बात मान ली, चुप हो गये, आँसू पोंछ लिए। और जब वे विशिष्ट लोग दर्शन करने आए, तो उनसे बातें करते-करते सहसा रोने लगे। लोगों ने पूछा – "महाराज, क्या हुआ?" बोले – "एक हाथ में इतना दर्द हो रहा है, मैं माँ को पुकार रहा हूँ और उधर हृदय मुझे घूर-घूर कर देख रहा है। कहता है, सबके सामने मत रोना। पर मुझे तो बड़ा कष्ट हो रहा है, क्या करूँ?" शरीर को मिथ्या कहकर आप स्वांग करें, तब तो वह एक दम्भ की बात हो जायेगी।

समाज तो दम्भ की ही पूजा करता है और चेले भी तो गुरु को नकली रूप में ही चाहते हैं। समाजवाले भी चाहते हैं, चेलों का क्या दोष! सब लोग चाहते हैं कि इस रूप में दिखाई दें तो महात्मा हैं।

इसका अभिप्राय है कि सचमुच जो रूप लग रहा है, आप उसी रूप में समझें। तत्त्व-ज्ञान का सत्य विचारगत सत्य तो है और आत्म-तत्त्व की दृष्टि से वह बिल्कुल ठीक है, परन्तु व्यक्ति चाहे ज्ञानी हो या अज्ञानी, जब तक उसका शरीर है, तब तक उसकी समस्याएँ भी हैं। अब अन्तर यही हो सकता है कि किसी व्यक्ति का ध्यान उसी में बहुत अधिक लगा रहे और दूसरा व्यक्ति अपना ध्यान अन्य दिशाओं में ले जाय, सहिष्णुता से उन्हें सहने का प्रयास करे। ऐसी स्थिति में भक्तों ने क्या किया? जब उन्हें प्रतीत हुआ कि हम तो स्वयं को – 'मैं आत्मा हूँ' – इस प्रकार आत्मरूप में अनुभव ही नहीं कर पाते और अपने आप को शरीर के रूप में ही देखने के अभ्यस्त हैं और शरीर के साथ सारी समस्याएँ हैं, भूख भी है, प्यास भी है, भोग भी है, रोग भी है, कष्ट भी है, तो ऐसी स्थिति में उन्होंने एक बड़ा सुन्दर सामंजस्य किया।

भक्तों ने कहा – प्रभो, ठीक है, आप तत्त्वत: तो निर्गुण हैं, निराकार हैं, सम हैं, कूटस्थ हैं, पर हमारे साथ तो शरीर की समस्या है, आप एक बार हमारे सामने तो आइए। मनु ने यही कहा – हम आपको देखना चाहते हैं –

देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। १/१४६/६

देखना चाहते हैं अर्थात् कोई रूप नहीं है, यह तो तत्त्व है और देखना चाहते हैं, यह है रुचि। **ब्रह्म तत्त्व है और रूप रुचि**। और भक्त की प्रार्थना स्वीकार करके जब वे प्रगट हुए, तब मानो तत्त्व और रुचि का सामंजस्य हो गया –

भगत बछल प्रभु कृपानिधाना।
बिस्वबास प्रगटे भगवाना।। १/१४६/८

और यह जनकपुर क्या है? – तत्त्वज्ञान की भूमि। इस भूमि में प्रगट हुई मूर्तिमती भक्ति सीताजी। **तत्त्व है ब्रह्मज्ञान और रुचि है भक्ति**। जनक-नन्दिनी अर्थात् तत्त्वज्ञान की भूमि पर प्रगट हुई भक्ति। भक्तिरूपा सीताजी के नगर में भगवान श्रीराम के आगमन का, उनके मिलन का, विवाह का मानो अभिप्राय है – इस तत्त्व और रुचि का एक हो जाना। 'मानस' में इसके अनेक संकेत मिलते हैं।

किष्किन्धा-काण्ड में भी प्रभु ने हनुमान जी से मिलते ही यह कह दिया था कि तुम तो मुझे लक्ष्मण से दूने प्रिय हो। और यह उन्होंने बालि पर बाण चलाने से पहले ही कह दिया था। पर इसके बाद भी बालि ने कहा – 'समदरसी रघुनाथ'। अब ऐसे ज्ञानियों के लिए क्या कहें! जब प्रभु ने कहा – तुम मुझे लक्ष्मण से दूने प्रिय हो –

सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना।
तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना।। ४/३/७

यह सुनकर हनुमान जी को बड़ा आश्चर्य हुआ। बोले – "मैंने तो सुना था कि आप सम हैं, अब आपके यहाँ भी दूना, चौगुना होने लगा क्या? आप अगर यह कहते कि लक्ष्मण और तुम मुझे एक बराबर – समान रूप से प्रिय हो, तो कोई बात होती।" पर भगवान को देखिए, बराबर तो कभी कहते ही नहीं है, जब कहेंगे तो दूना या अधिक। जब गुरुजी से बन्दरों का परिचय कराते हैं, तो कहते हैं –

ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे।
भए समर सागर कहँ बेरे।। ७/८/७

अब इसकी क्या आवश्यकता थी? कह देते कि ये मुझे बड़े प्रिय हैं। पर उन्हें यह कहे बिना सन्तोष नहीं होता कि ये मुझे भरत से भी अधिक प्रिय हैं। हमुमान जी के लिए कहेंगे – तुम लक्ष्मण से दूने प्रिय हो। प्रभु ने मानो सूत्र दिया कि जब मैं अवतार लूँगा, तो किसी गर्भ से लूँगा और जैसा वह चाहता है वैसा – उसकी भावना और आकांक्षा के अनुरूप लूँगा। मैं तो अपने भक्त की आकांक्षा पूर्ण करने के लिए अवतार लेता हूँ। **अवतार जो है वह तत्त्व और भक्त की रुचि और आकांक्षा का परिणाम है।** शास्त्र कहते हैं और भगवान ने भी स्पष्ट रूप से कह दिया – हनुमान, यह ठीक है कि मैं समदर्शी हूँ, लेकिन कब तक? इसे न समझ पाने के कारण ही व्यक्ति भ्रमित होता है। सेवक मुझे प्रिय है और उनमें से जो अनन्य है, वह मुझे और भी प्रिय है –

समदरसी मोहि कह सब कोऊ।
सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ।। ४/३/८

भगवान का तात्पर्य यह है कि तत्त्व में तो समत्व हो सकता है, परन्तु **व्यवहार में समत्व का नाटक मात्र हो सकता है, पर समत्व नहीं हो सकता।** अब यहाँ जितने श्रोता है, कोई आगे बैठे हैं कोई पीछे, कोई कुर्सी पर बैठे हैं कोई जमीन पर, मुझे यहाँ चौकी पर बिठा दिया गया है। इसमें विषमता है। अब एक समत्व तो यह हो सकता है कि सबको कुर्सी पर बिठा दिया जाय या सबको जमीन पर, तो भी आगे-पीछे की विषमता तो बनी ही रहेगी। ऐसी अनेक विषमताएँ हैं, जिन्हें व्यवहार में पूरी तौर से नहीं मिटाया जा सकता। **समत्व तत्त्व में है और तत्त्व विचारगत होता है।** आत्म-तत्त्व के सन्दर्भ में, ब्रह्म के सन्दर्भ में तो यह यथार्थ ही है, पर इस सूत्र को याद रखें कि **आप तत्त्व में स्थित होना चाहते हैं या तत्त्व को अपने में स्थित करना चाहते हैं?**

इसके लिए एक दृष्टान्त लें। जब आप किसी सरोवर या नदी में उतरते हैं, तो आपको अनुभव होता है कि उसमें कितनी जलराशि है, वह कितनी गहरी और कितनी विशाल है। एक स्थिति तो यह है और दूसरी यह कि जब आपको प्यास लगती है, तब आप एक पात्र में जल लेकर पी लेते हैं। **स्नान करते समय आप जल में जाते हैं और पीते समय जल को अपने भीतर ले आते हैं।** आपके प्यास की समस्या का समाधान यह जानने से नहीं होगा कि नदी में जल कितना है। वह भी जानिये, अच्छी बात है, पर प्यास बुझाने के लिए तो दो-चार गिलास जल ही यथेष्ट है। इसका अभिप्राय यह है कि भक्त तो भगवान से अनुरोध करता है कि आप ही आ जाइए। उसके इस अनुरोध का अर्थ यह है कि भक्त भगवान को अपनी रुचि – अपनी आवश्यकता के अनुकूल पाना चाहता है। मनु-सतरूपा-प्रसंग में यही संकेत मिलता है।

❖ (क्रमशः) ❖

पुरखों की थाती

इच्छति शती सहस्रं
ससहस्रः कोटिमीहते कर्तुम्।
कोटियुतोऽपि नृपत्वं
नृपोऽपि बत चक्रवर्तित्वम्।।

– सौ रुपयों का स्वामी हजार रुपयों की आकांक्षा करता है, हजारपति उसे करोड़ में परिणत करना चाहता है, करोड़पति राजा बनना चाहता है और जो राजा है वह चक्रवर्ती सम्राट् होने की चेष्टा में लगा रहता है। तात्पर्य यह कि सभी अभावग्रस्त हैं, कोई भी अपनी वर्तमान स्थिति से सन्तुष्ट नहीं है।

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति।।

– धर्म (पुण्य) ही एकमात्र ऐसा मित्र है, जो मृत्यु के उपरान्त भी साथ जाता है, बाकी सब कुछ तो शरीर के साथ ही नाश को प्राप्त हो जाते हैं।

उदये सविता रक्तो रक्तश्चास्तमये तथा।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता।।

– जैसे सूर्य उदय के समय तथा अस्त के समय – दोनों ही अवस्थाओं में एक ही रंग का – लाल ही रहता है, वैसे ही महापुरुष लोग भी सम्पत्ति तथा विपत्ति में समान रूप से मन को शान्त रखते हैं।

स्वाध्याय की आदत

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

मनुष्य अपने जीवन में कई प्रकार की आदतें डाल लिया करता है। तन और मन को प्रिय लगनेवाली आदतें तो बहुत जल्दी लग जाती हैं, पर विवेक को रुचनेवाली आदतों का निर्माण प्रयत्नपूर्वक करना पड़ता है। जल को नीचे बहने में किसी प्रकार का श्रम नहीं होता, बल्कि ढाल में उसकी गति अपने आप तेज हो जाती है, पर उसे यदि कोई ऊपर ले जाना चाहे, तो श्रम करना पड़ता है, पम्प लगाना पड़ता है। उसी प्रकार जो बातें मन को निम्नगामी बनाती हैं, उनकी आदत अपने आप लग जाती है, पर जिनसे मन ऊर्ध्वगामी बनता है, उनकी आदत प्रयत्नपूर्वक लगानी पड़ती है। ऐसी ही आदतों में से एक है स्वाध्याय यानी अध्ययन का अभ्यास।

कई लोगों को हल्की-फुल्की कहानियाँ और उपन्यास पढ़ने का शौक होता है, पर इसे अध्ययन नहीं कहा जायेगा। अध्ययन वह है, जिससे हम कुछ सीखने की कोशिश करते हैं। स्वाध्याय हममें ज्ञान पैदा करता है। ज्ञान उसे कहते हैं, जो उचित और अनुचित का भेद बताता है - यह सिखाता है कि किससे व्यक्ति का कल्याण होता है और किससे अकल्याण। अध्ययन मनुष्य को बुराइयों से बचाता है।

कहा जा सकता है कि इतिहास में ऐसे भी महान् पुरुष हो गये हैं, जो लिखना-पढ़ना नहीं जानते थे, अतः जिनके लिए अध्ययन-स्वाध्याय सम्भव नहीं था। पर यह तर्क अध्ययन की उपयोगिता को दबा नहीं सकता। बिना पढ़े भी मनुष्य महान् हो सकता है, पर यह अपवाद है, सामान्य नियम नहीं। और हम तो सामान्य स्तर पर सर्वसामान्य लोगों के लिए यह चर्चा कर रहे हैं। अध्ययन वह खराद है, जिसके द्वारा आत्मसंस्कार साधित होता है।

स्वामी विवेकानन्द के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे इतने विद्या-व्यसनी थे, इतने अध्ययन-प्रेमी थे कि मोटा-से-मोटा ग्रन्थ अल्प समय में पढ़ लेते थे। वे पृष्ठ की पहली और अन्तिम पंक्तियों को पढ़कर पूरे पृष्ठ का कथ्य समझ लेते थे। उनकी यह प्रतिभा अध्ययन का ही फल थी। फिर कहा जाता है कि उन्होंने ऐसी दो बातें कही थीं, जिन्हें भविष्यवाणी का दर्जा दिया जा सकता है। विश्वप्रसिद्ध होने से पूर्व अमेरिका के अनिस्काम नामक गाँव की घटना है, जहाँ उन्होंने एक तो यह कहा था कि जब अँगरेज भारत छोड़कर चले जाएँगे, तब चीनियों द्वारा भारत पर आक्रमण का डर बना रहेगा और दूसरा यह कि आगामी दिनों में एक ऐसी महान् हलचल जो विश्व में नये युग का प्ररम्भ करेगी, या तो रूस से शुरू होगी या चीन से। यह बात उन्होंने जुलाई १८९३ में कही थी। तब श्रोताओं में से किसी को इस पर विश्वास नहीं हुआ। जब एक ने पूछा कि क्या आप भविष्यद्रष्टा हैं? तो स्वामीजी ने कहा था – "मैं भविष्यद्रष्टा नहीं, इतिहासद्रष्टा हूँ।"

स्वामी विवेकानन्द जो अपने को इतिहासद्रष्टा कहते हैं, तो उनको यह दृष्टि इतिहास के अध्ययन से ही मिली थी। अध्ययन का, स्वाध्याय का ऐसा चमत्कार होता है।

ये तो स्वाध्याय के बड़े लाभ हुए, पर सामान्य जनों के लिए बहुत-से छोटे-छोटे लाभ भी हैं। इसके द्वारा हम घर बैठे दुनिया के धुरन्धर विद्वानों के विचारों का लाभ ले सकते हैं तथा विश्व के प्राचीनतम मनीषियों के साथ सत्संग कर सकते हैं। ग्रन्थ के अनुशीलन से देश और काल की दूरियाँ खत्म हो जाती हैं। यदि हम बीमार हों, तो समय अच्छे ढंग से कट जाता है। बूढ़े, अवकाशप्राप्त व्यक्ति को समय मानो काटता है, वह बिताये नहीं बीतता और उसे अपना जीवन एक फिजूल बोझ मालूम पड़ता है। पर यदि वह स्वाध्याय की आदत डाल लेता है, तो उसकी ऊपर बतायी समस्याएँ अपने आप मिट जाती हैं और उसे अपने जीवन की सार्थकता मालूम होती है। उसे फिर साथियों का अभाव नहीं खलता।

स्वाध्याय हमें मनोबल प्रदान करता है और हममें अध्यवसाय के प्रति प्रेम भरता है। हतोत्साहित व्यक्ति के लिए भी स्वाध्याय रामबाण दवा है। उसे कोई ऐसा सूत्र मिल जाता है, जिससे उसमें उत्साह की नयी किरण पैदा होती है और परिस्थितियों से मुठभेड़ लेने के लिए वह उद्यत हो जाता है। अतएव जीवन में यदि हमें कोई चस्का लगाना ही है, तो हम अध्ययन-स्वाध्याय का चस्का लगावें। ❑❑❑

आत्माराम की आत्मकथा (६)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। डॉ. डी. भट्टाचार्य द्वारा इसके हिन्दी अनुवाद की पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

आनन्द से भरपूर हो बेलूड़ मठ की ओर चल पड़ा। जय गुरु महाराज की! जय महामाया की! आश्रय मिला, अब डर नहीं। प्रभु ने जीवन के आदर्श-पथ पर चलने का सुयोग दिया है। उनकी दया से मेरे हृदय की इच्छा पूरी होगी। माँ माँ, जगदम्बा – मेरी माता ने अपना सीना चीरकर खून देकर मुझे तुम्हारे चरणों में सौंपा था। मुझे ग्रहण करो, आश्रय दो, मेरा त्याग मत करना। यह शरीर तुम्हारा है, मैं तुम्हारा हूँ, अब अपने ही काम में लगाओ – आदि प्रार्थनाएँ करते-करते हावड़ा पुल पार करके रात को मठ में लौटा। उस समय सभी प्रसाद ग्रहण करने के लिए बैठे थे। मेरे लिए भी स्थान रखा गया था। मुझे देखते ही पूज्य खोका महाराज ने कहा – "जल्दी आओ। इतनी देर कैसे हुई?" मैं बोला – "महाराज, पास में पैसे नहीं थे, इसलिए हावड़ा होकर आने में देरी हो गई।" महाराज ने कहा – "जब गये थे, तो मुझसे माँग लिया होता – स्टीमर में बाली होकर आ जाते।" पूज्य महाराज (**स्वामी ब्रह्मानन्द**) ने मुझे रहने का आदेश दिया है – सुनकर वे (**स्वामी सुबोधानन्द**) आनन्दित हुए और मेरे रहने की व्यवस्था करने का आदेश दिया।

उसी दिन से मैं मठ में निवास करने लगा। मठ के सभी साधु-संन्यासी मुझे जानते थे, उनका दैनन्दिन जीवन भी पहले कई बार देखने का सुयोग मिला था, अत: नया बिल्कुल नहीं लग रहा था, भय या संकोच कुछ भी न था। दो-तीन दिन में ही ऐसा लगने लगा मानो बहुत दिनों से मठ में ही हूँ। ऐसा इस कारण भी हो सकता कि १९१२ ई. से ही मन एक तरह से मठ में ही पड़ा रहता। वहाँ आना-जाना लगा ही रहता और सर्वदा ठाकुर-स्वामीजी तथा अन्य वर्तमान संन्यासियों एवं मठ के आदर्श व उद्देश्य के बारे में चर्चा करता था।

जिनको अपनी आँखों से देखा था, उन्हीं के पवित्र जीवन की चर्चा से मेरा मन मठ की ओर आकृष्ट हुआ था। इनमें से मुझे जिनके सम्पर्क में अधिक आने का सुयोग मिला – **पूज्य बाबूराम महाराज (स्वामी प्रेमानन्द)** व **पूज्य राजा महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द)** – इन दो महापुरुषों के अद्भुत पवित्र जीवन ने मुझे सर्वाधिक मुग्ध किया। प्रेमानन्द यथार्थ में ही प्रेमानन्द थे – सबके प्रति उनका क्या ही स्नेह-प्रेम था!

हर भक्त सोचता कि शायद वे उसी से सर्वाधिक स्नेह करते हैं। क्या शुद्ध, क्या निष्काम भाव था उनका! कहते हैं कि **मनुष्य में जिस भाव की कमी या अपूर्णता रहती है, उसे वह नाम देकर पूर्ण किया जाता है।** जैसे नाम है शान्ति – लेकिन जीवन है अशान्तिपूर्ण; नाम है दीनबन्धु, लेकिन दीन-दुखी के प्रति किसी भी दिन दया का लेशमात्र भी नहीं दिखा पाते। लेकिन यहाँ पर ऐसा न था। प्रेमानन्द तो सचमुच ही प्रेम एवं आनन्द की प्रत्यक्ष मूर्ति-स्वरूप थे। **पूज्य स्वामी ब्रह्मानन्द जी** के बारे में भी ऐसा ही कहा जा सकता है।

इन्हीं कारणों से बड़े सहज भाव से और एक तृप्ति व आनन्द के बीच दिन बीतते गये। अपना निर्दिष्ट काम पूरा करके भगवान के स्मरण-मनन, सच्चर्चा तथा सद्ग्रन्थों के अध्ययन में समय बीतने लगा। अपने स्वभाव के कारण मैं थोड़ा अलग-अलग रहता, पर सभी के साथ एक प्रीति का सम्पर्क था। सिर्फ एक दिन किसी के अन्यायपूर्ण व्यवहार के कारण उससे कुछ कहा-सुनी हो गई थी। लेकिन वही शेष था और कभी किसी के साथ ऐसा नहीं हुआ।

इतने में पूज्य बाबूराम महाराज पूर्वी बंगाल से सर्दी-जुकाम तथा बुखार लेकर लौटे। वे बलराम मन्दिर में निवास करते थे। उनकी बीमारी की बात सुनकर मन बड़ा दुखी हुआ। उनका दर्शन करने जाने की इच्छा थी, पर पास में पैसे नहीं थे, अत: जा नहीं पा रहा था। कुछ ब्रह्मचारियों ने आने-जाने का खर्चा दिया, तभी जा सका। उनके पास पहुँचा, तो तीन बज रहे थे। ऊपर के बड़े कमरे में वे आँखें बन्द करके बैठे हुए थे। शान्तिराम बाबू बाहर बैठे थे, बोले – जाग रहे हैं। धीरे-धीरे उनके पास गया। पास पहुँचते ही उन्होंने आँखें खोलकर कहा – "तो तू आ गया है! तेरी बात याद थी।" प्रणाम करके मैं पास बैठकर पंखे से हवा करने लगा। वे फिर बोले – "क्या तूने सुना है – पूर्वी बंगाल में सब ठाकुर के नाम से मोहित हो गये हैं। घर-घर में उनकी पूजा हो रही है। शरीर दुर्बल हो गया है, अन्यथा वहाँ सर्वत्र उस नाम का सन्देश लेकर जाता। अब मुसलमानों ने भी उन्हें मानना शुरू कर दिया है। कई तो नित्य 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' का पाठ करते हैं। समझा! धन्य है तेरा भाग्य! अब उन्हीं के कार्य में लग जा। शान्ति मिलेगी, विद्या का प्रकाश होगा। मुझे ही देख न – मैंने क्या कोई पढ़ाई-लिखाई की थी! पर उनकी

दया होने पर सभी लोग हाथ की मुठ्ठी में आ जाते हैं – **मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम्** – उनकी दया होने पर – समझा – उनकी दया होने पर !"

शरीर दुर्बल अस्वस्थ था। कष्ट-बोध करने लगे। इसी बीच शान्तिराम बाबू ने दूर से ही दो बार संकेत द्वारा मुझे ज्यादा बातचीत करने से मना किया। मैंने कहा – "महाराज, आपको कष्ट हो रहा है, अधिक मत बोलिए। आपके स्वस्थ हो जाने पर आपके उपदेश तथा पूर्वी बंगाल में आपके प्रचार की बातें खूब सुनूँगा। (हाय रे, तब क्या मालूम था कि वही मेरी उनसे अन्तिम भेंट है!) वे थोड़ा जोर देकर बोले – "छी! उनकी बातें करने में कष्ट कैसा? यह देह तो नश्वर है, जितना उनकी सेवा में लगे, उतना ही अच्छा! उनका काम करते-करते यह शरीर यदि नष्ट हो जाय, तो इससे बढ़कर सौभाग्य और क्या हो सकता है! बोल श्री गुरु महाराज जी की जय! महामाई की जय!! स्वामीजी महाराज की जय!!!"

उनकी उतेजना देखकर मैं घबरा गया कि यदि बीमारी बढ़ जाय, तो सब मुझ पर ही नाराज होंगे। उनकी ये बातें सुनकर मेरा हृदय अभिभूत हो गया था। बीच-बीच में आँखों में पानी आ रहा था। ... शान्तिराम बाबू ने आकर तीसरी बार बाहर आने का इशारा किया। मैंने महाराज को प्रणाम करके विदा माँगी। वे थोड़ा उदास होकर बोले – "जायेगा, तो जा। उद्बोधन होकर माँ को प्रणाम करता जा और उनसे कहना – अब मैं थोड़ा अच्छा हूँ।"

उनके आदेशानुसार उद्बोधन गया, परन्तु याद नहीं क्यों श्रीमाँ के दर्शन करना सम्भव नहीं हुआ, परन्तु यह संवाद देने का अनुरोध करके मैं स्टीमर से कूठी घाट होकर मठ लौटा। इसके बाद उनके दर्शन का कोई अवसर नहीं मिला। जब वे वैद्यनाथ से लौटे, तो इन्फ्लुएंजा और सर्दी-जुकाम लेकर लौटे। मठ में रोज ही उनके स्वास्थ्य के बारे में खबर आती। वरिष्ठ-गण कहते कि थोड़ा स्वस्थ होने पर उनके दर्शन तथा उपदेश सुनने की अनुमति मिलेगी। अत: उनके दर्शन की प्रबल इच्छा होते हुए भी, उसे दबाये रखने को बाध्य हुआ था। कई लोग कलकत्ते जाकर भी उनका दर्शन करने की अनुमति न मिलने से दुखी होकर लौट आये थे।

इसके बाद एक दिन शाम को खोका महाराज परेशान-से सहसा मठ में आये और काष्ठादि तैयार करने का आदेश दिया। समझा कि हमारे पूज्य बाबूराम महाराज ने स्वधाम प्रस्थान किया है, अब वे इस मर्त्यलोक में नहीं हैं। मन में बहुत दुख हुआ, बिल्व-वृक्ष के नीचे बैठकर खूब रोया। कितना अभागा हूँ मैं! मठ में आकर भी मन-प्राण से उनकी सेवा न कर सका। जब घर से आता-जाता था तब वे कृपा करके थोड़ी-बहुत सेवा का अधिकार देते थे। कितने ही दिन, जब वे रात को ऊपर के छोटे कमरे में शयन करते, तो कभी मैं अकेला या कभी किसी अन्य के साथ धीरे-धीरे उनके चरणों में हाथ फेरते हुए उनके उपदेशामृत पान करता। कितने मधुमय दिन थे वे और कितनी मधुमय वाणी थी उनकी! ठाकुर-स्वामीजी की बातों का उनके पास अनन्त भण्डार था। कितने सुन्दर ढंग से, कितने उत्साहपूर्वक वे उन्हें एक-के-बाद-एक कहते जाते थे। अध्यात्म के उच्च शिखर पर स्थित इन महापुरुष की वाणी से क्या ही अमृत टपकता था!

संध्या को कलकत्ते से सब लोग उनका पवित्र शरीर लेकर आये। स्वामीजी के मन्दिर के पास उनकी चिता सजायी गई। होम आदि के पश्चात् आग में सब राख हो गया। मैं दुख में गेस्ट हाउस की सीढ़ी पर अकेला अन्धकार में बैठा रो रहा था। सब समाप्त हो जाने के बाद भी वहाँ से उठने की इच्छा नहीं हो रही थी। मन में आ रहा था कि ऐसे महापुरुषों का शरीर इतना शीघ्र क्यों चला जाता है? जिनके रहने से मनुष्य का इतना कल्याण हो सकता है, भगवान उन्हें ज्यादा दिन जीवित क्यों नहीं रखते? अहा! मठ आज मातृहीन हुआ। अब कौन उनकी तरह इतना स्नेह, इतना यत्न लेकर मठ के लड़कों को देखेगा! कौन शिक्षा देगा!

पूज्य महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्द) वहाँ उपस्थित थे। उनके आदेशानुसार सभी घड़े भर-भर कर जल से अग्नि शान्त कर रहे थे। कुछ ब्रह्मचारियों से यह सूचना पाकर मैंने भी यथानियम जल दिया। उस रात मैं सो नहीं सका। इस महापुरुष के विच्छेद ने मेरे मन को बहुत उदास कर दिया था। सिर्फ यही इच्छा हो रही थी कि कहीं भाग जाऊँ और घोर तपस्या में देहपात करूँ। पूज्य बाबूराम महाराज की महासमाधि के बाद मठ कैसा खाली-खाली लगता था, मन बड़ा दुखी था, सभी एक उदास भाव में डूबे थे। सबके मुख पर दिन-रात उन्हीं की बातें थीं। सभी उनके बारे में अपने- अपने अनुभव बताने को उत्सुक थे। भक्तों की संख्या, मठ के दैनिक व साप्ताहिक आगन्तुक कम हो गये। ब्रह्मलीन बाबूराम महाराज के जीवन-काल में प्रति रविवार को मठ में एक छोटे-मोटे उत्सव जैसी भीड़ होती। सभी उनके प्रेम से आकृष्ट होकर आते। कई भक्तों ने मठ में नियमित रूप से आना बन्द कर दिया। पूछने से कहते – "बाबूराम महाराज नहीं हैं, इसलिए जाने का कोई उत्साह ही नहीं है। उनके रहते एक आकर्षण होता। न जाने पर प्राण व्याकुल हो जाते। उस व्याकुलता तथा आकर्षण का अब अनुभव ही नहीं होता।"

पूज्य महापुरुष महाराज मठ के प्रबन्धक तथा उपाध्यक्ष हुए। मठ का काम यथारीति चलने लगा, लेकिन जो बाबूराम महाराज को अपने प्राणों से अधिक प्यार करते थे, उन्हें अपने मन में स्फूर्ति का बोध नहीं होता था। उस समय मठ का हिसाब रखने का, स्वामीजी का कमरा साफ करने का, कभी-कभी स्वामीज़ी का समाधि-मन्दिर साफ करने का और थोड़ा-

सा ग्रन्थालय का कार्य मुझे सौंपा गया था। वैसे ब्रह्मचारी न. दफ्तर के इन्चार्ज थे और इन कार्यों में मेरी काफी सहायता करते। शुरू में कुछ दिन हमने खूब मेल-जोल से काम किया, पर बाद में थोड़ा मतभेद होने लगा। दृष्टान्त के रूप में कहा जा सकता है वे रुपये जमा करना लिखवाते, पर उसका पूरा खर्चा लिखवाना प्राय: भूल जाते, अत: हिसाब अपूर्ण रह जाता। रुपये वे अपने पास रखते और जरूरत के अनुसार तिजोरी से निकालकर मुझे देते। इसी कारण बीच-बीच में मतभेद होता। तो भी अधिकांशत: हम शान्ति तथा प्रीति के साथ काम किया करते थे।

इसी बीच दो घटनाओं से मेरा मन बहुत दुखी हुआ और मन में बाहर जाकर तपस्या करने का भाव प्रबल रूप से उदित हुआ। पूज्य महापुरुष महाराज को मैंने अपने मन की इच्छा बतायी। वे बड़े प्रसन्न हुए और कहा – "यह तो बड़ी उत्तम बात है, ब्र.न. को कोई असुविधा न हो, तो जा सकते हो।" ब्र.न. को अपने मन की बात बताते हुए मैं बोला – हिसाब समझ लीजिए। परन्तु वे हिसाब समझने को तैयार नहीं थे। कहते रहे – "यहीं तपस्या क्यों नहीं करते, इच्छा हो तो बगीचे में एक कुटिया बनाकर खूब तपस्या करो।" दिन जितने बीतते गये, मन उतना ही उदास होता रहा और शान्ति के लिए मैं ठाकुर के पास रोता रहा।

वे दो घटनाएँ इस प्रकार हुई थीं – (१) एक बार भक्तों की एक टोली दोपहर में करीब एक बजे मठ-दर्शनार्थ आयी और उन लोगों ने वहीं भोजन-प्रसाद ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की। उन दिनों कुछ पुराने ब्रह्मचारी भोजनालय का कार्य देखते थे। उन्होंने कहा – "सबने भोजन कर लिया है और रसोइया-ब्राह्मण विश्राम करने चले गये हैं, अत: इस समय भोजन की व्यवस्था नहीं हो सकती।" भक्त लोगों को ऐसे ही लौटना पड़ा। मेरे और मठ के अन्य कई लोगों को यह बात सुनकर बड़ा दुख हुआ। बाबूराम महाराज के जीवन-काल में समय-असमय में कोई भी, कभी भी आ जाय, तो उसे और कुछ न हो तो उन्हें चिवड़ा तथा गुड़ ही खिला दिया जाता था। अधिकांश समय चावल या खिचड़ी बनवा देते। परन्तु कभी यह नहीं कहते कि 'सुविधा नहीं होगी'। भूखे अन्नप्रार्थी को वे कभी लौटाते नहीं थे। तब भी उनकी स्मृति पूर्णत: जाग्रत थी, तो भी ऐसा हुआ। इस विषय को लेकर खूब चर्चा हुई और कइयों का मत था कि उन ब्रह्मचारी का कार्य बदल दिया जाय, पर नाना कारणों से ऐसा हुआ नहीं।

(२) बाबूराम महाराज की महासमाधि के बाद से ही मठ के अन्तेवासियों के भोजन आदि के बारे में ऐसा नियम हुआ कि सब्जी या दाल दुबारा माँगने पर नहीं दिया जायेगा। और मठ की आर्थिक स्थिति उतनी बुरी भी नहीं थी कि ऐसा होना अनिवार्य होता। रोगियों को भी दूध नहीं मिल रहा था। वे ही ब्रह्मचारी भण्डार के प्रभारी थे। एक बार उनसे पूछा गया – "जो लोग बीमार हैं या अभी आरोग्य-लाभ कर रहे हैं, उन्हें नियमित रूप से दूध क्यों नहीं दिया जाता और बाकी लोगों को दुबारा माँगने पर सब्जी या दाल क्यों नहीं दी जाती?" उनके उत्तर से कोई भी सन्तुष्ट नहीं हुआ, यह देख वे नाराज हुए और बोले कि वे इस कार्य का भार अब नहीं चाहते। उन दिनों पूज्य महापुरुष महाराज मठ में नहीं थे, किसी कार्यवश कलकते में विराजते थे। उनके लौट आने तक बात को स्थगित रखा गया। अगले दिन कोई संन्यासी कलकते जा रहे थे। उन्हें इस विषय में श्रीमाँ से कुछ भी कहने से मना किया गया था, परन्तु उन्होंने इस पर ध्यान देकर श्रीमाँ को इस घटना से से अवगत करा दिया। इसके फलस्वरूप माँ अत्यन्त दुखी हुईं और तत्काल **पूज्य शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द जी)** को बुलाकर कहा – "बाबूराम के जाने से ही मठ के लड़कों को यह कष्ट हो रहा है, यदि तुम लोग आज ही इसका कोई बन्दोबस्त न कर सको, तो मैं स्वयं ही जाकर देखूँगी कि बच्चों को भोजन आदि में कष्ट तो नहीं हो रहा है!" उस दिन उन संन्यासी ने (बलराम मन्दिर में जाकर) पूज्य महाराज (ब्रह्मानन्द जी) को भी सारी बातें बता दीं और यह भी बताया कि श्रीमाँ यह सुनकर बहुत दुखी हैं। सुनकर पूज्य महाराज ने तुरन्त आदेश भेजा कि उन ब्रह्मचारी से यह काम ले लिया जाये और भोजन आदि का सुप्रबन्ध किया जाये।

इन दो घटनाओं से कइयों के मन में बड़ा दुख हुआ था और मेरे उदास-भाव की अग्नि में भी घी का काम किया था। मैं और एक अन्य संन्यासी एकान्त में बैठकर ब्रह्मलीन बाबूराम महाराज के स्नेह और दया की बातें करते और रोते।

मैंने तब तक मंत्रदीक्षा नहीं ली थी और मन में श्रीमाँ से लेने की ही इच्छा थी। परन्तु मैं इस विश्वास के साथ उनकी

दया की प्रतीक्षा कर रहा था कि उनकी इच्छा होने पर ठीक योगायोग हो जायेगा। एक दिन **पूज्य खोका महाराज** ने कहा – "अजी, तुम दीक्षा ले लो न, माँ अभी उद्बोधन में विराज रही हैं। तुम्हारी क्या इच्छा है !" मैंने कहा – "महाराज, इच्छा तो है ही, परन्तु आपकी अनुमति की प्रतीक्षा थी।" अगले दिन कृष्णलाल महाराज मठ में आये थे और ऊपर के कमरे में पूज्य महापुरुष महाराज के साथ बातें कर रहे थे। खोका महाराज मुझे उनके पास ले गये और बताया कि इसकी इच्छा माँ के पास दीक्षा लेने की है। महापुरुष महाराज ने सहमति तो दी, परन्तु थोड़े गम्भीर हो गये।

पू. कृष्णलाल महाराज ने श्रीमाँ से अनुमति लेकर मुझे सूचित किया – "आगामी राखी-पूर्णिमा के दिन श्रीमाँ दीक्षा देंगी, तैयार होकर आना।" बृहस्पतिवार, २२ अगस्त १९१८ को पूर्णिमा के दिन सुबह स्नानादि करके पुष्पादि लेकर मैं उद्बोधन गया। श्रीमाँ ने पूजा आदि समाप्त करने के बाद मुझे बुला भेजा और अपने सामने के आसन में बैठाकर, बड़े आश्चर्य की बात है, मेरी गर्भधारिणी-माँ जिनके चरणों में मुझे सौंप गई थीं, उन्हीं का मंत्र दिया और आशीर्वाद दिया – भक्ति हो; भगवान की कृपा प्राप्त हो। गुरुदक्षिणा – क्या दूँगा? मेरे पास तो कुछ भी नहीं है माँ, इसीलिए ये फूल लाया हूँ, स्वीकार कीजिये। माँ ने हँसते हुए एक हरीतकी मेरे हाथ में देकर कहा – दक्षिणा दो। मैंने फूल और वही हरीतकी उन्हें दक्षिणा स्वरूप दी।

प्रसन्नमयी माँ ने प्रसन्न होकर फिर आशीर्वाद किया और उस दिन वहीं प्रसाद पाने का आदेश दिया। भोजन के समय उन्होंने अपना प्रसाद मेरे लिए भेज दिया। सोचने लगा – "माँ में कितनी दया है ! मेरे समान अशुद्ध-मन तथा निकम्मे पुत्र पर भी इतनी दया की ! उन्हीं की चीज उन्हें दक्षिणा के रूप में दी। माँ, तुम्हारे और अन्य गुरुओं में कितना भेद है !" मन-ही-मन उनको आद्याशक्ति-स्वरूपिणी मानकर, अन्तर-ही-अन्तर में उन्हें बता दिया कि यह देह-मन उन्हीं का है, क्योंकि एक ही वस्तु उन्हें दो बार कैसे दी जा सकेगी ! गर्भधारिणी-माँ तो सौंप गई थीं, अब मैं पुन: कैसे स्वयं को सौंपूँ !" अत: वे फूल देकर ही मन को सन्तोष करना पड़ा।

दीक्षा पाने के एक माह बाद – श्रीमाँ की अनुमति लेकर – मैंने काशी जाने का निश्चय किया। नये कपड़े ... कौपीन, धोती, कुर्ता तथा एक पगड़ी को मठ के संन्यासी ने भलीभाँति रंग कर दिया। वह भी पूर्णिमा और शायद गुरुवार का दिन था। सुबह वे कपड़े मैं श्रीमाँ के पास ले गया। माँ ने ठाकुर की पूजा करके धोती तथा कौपीन मेरे हाथों में दिये। मेरा मन भावों से पूर्णत: अभिभूत था। मैं रोते हुए उनके चरणों में पड़कर बोला – "माँ, आशीष दो कि मैं भगवान के दर्शन कर सकूँ।" "जरूर करोगे, बेटा" – कहकर उन्होंने स्नेहपूर्वक मेरी ठोड़ी स्पर्श करके अपना हाथ चूमकर आशीर्वाद दिया।

मेरे कुछ साथी साधुओं के अलावा और किसी को यह बात मालूम नहीं थी कि मैं श्रीमाँ के पास गेरुआ कपड़े लेने गया था। पू. महापुरुष महाराज को भी यह बात मैंने नहीं बताई थी। शाम को जब मठ लौटा, तो उन्होंने नाराज होकर पूछा – "कहाँ गये थे?" उनको सब बतलाया। सुनकर वे गम्भीर हो गये, कुछ बोले नहीं।

ब्र.न. को बार-बार अनुरोध करने पर भी वे हिसाब नहीं समझ रहे थे, कोई-न-कोई बहाना कर टाल रहे थे। मेरा धैर्य अपनी सीमा तक जा पहुँचा। मैंने कहा – यदि दो-एक दिन में हिसाब नहीं समझ लेते, तो मैं चला जाऊँगा और तब मुझे दोष मत देना। उन्होंने कहा – यदि जा सकते हो, तो जाओ, पर जाना कोई आसान काम नहीं है। मैंने पूज्य महापुरुष महाराज को सूचित किया कि ब्र.न. हिसाब नहीं सँभाल रहे हैं और कहा – मेरी काशी जाने की प्रबल इच्छा हो रही है। वे बोले – उसे हिसाब समझाकर चले जाओ। मैंने एक बार फिर ब्र.न. से अनुरोध किया, लेकिन सब व्यर्थ हुआ। मेरा धैर्य चुक चुका था। एक बन्धन से निकलकर दूसरे बन्धन में ! यहाँ कहाँ स्वाधीनता है ! ऐसे व्यक्ति के साथ मेरे लिए काम करना कठिन था। घर में मुझे काफी स्वाधीनता थी। मुझे किसी ने कोई काम करने से, या कहीं जाने से बाधा नहीं दी थी। वैसे भगवान की कृपा से कभी कोई बुरा काम नहीं किया था, इसलिए सबको मुझ पर भरोसा था। कम आयु से ही अकेले ही अपनी इच्छानुसार विभिन्न स्थानों को गया हूँ और लौटा हूँ। पिता कभी कुछ नहीं, बस इतना ही कहते – "उचित समझते हो, तो जाओ या करो।" यहाँ यह सोचकर आया था कि उससे भी अधिक आजादी में रहूँगा, लेकिन हे प्रभो ! तुमने मुझे यह किस बन्धन में डाल दिया ! पूज्य महापुरुष महाराज आदेश दे रहे हैं, तो भी ये उनकी बात नहीं मान रहे हैं। धैर्य का बाँध टूट गया।

दूसरे दिन संध्या-आरती के बाद ठाकुर को प्रणाम करके बिना किसी को बताये 'जय दुर्गा' कहकर निकल पड़ा। सिर्फ मेरे एक स्नेही ब्रह्मचारी को इस बात का पता था। रास्ते में (बंगला भजनों का भावार्थ) – "दिन डूब रहा है, रात आसन्न है और 'श्रीदुर्गा' कहकर पार होने निकला हूँ, मेरी छोटी-सी नाव है और तुम्हीं इसकी खिवैया हो, तो भी वह डूब रही है !", "माँ तारा, मुझे तराओ !", "माँ, सब कुछ तुम्हारी ही इच्छा से होता है !" और "मेरी माँ, तुम्हीं तारनेवाली हो !" आदि भजन गाते हुए मैं हावड़ा स्टेशन जा पहुँचा।

❖ (क्रमश:) ❖

जीने की कला (३७)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी दो भागों में निकला है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। अनुवादक हैं श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत हैं। – सं.)

ध्यान कैसे करें

ध्यान एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें मन अविच्छिन्न तैलधारा के समान ईश्वर की ओर प्रवाहित होता है। जप सघन होकर ध्यान में परिणत हो जाता है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि ध्यान के लिए हृदय ही श्रेष्ठ स्थान है। कहते हैं कि ज्ञानमार्ग के साधक भौंहों के बीच और भक्त अपने हृदय में ध्यान करते हैं। प्रारम्भिक साधकों के लिए नि:सन्देह हृदय ही ध्यान का सर्वोत्तम स्थान है। परन्तु यह हृदय है क्या?

सावधानी से विचार करने पर हम अनुभव करते हैं कि हृदय तीन प्रकार के होते हैं। दैहिक हृदय के बारे में हर कोई यह जानता है कि उससे शरीर के सभी भागों में रक्त-संचार होता है। यह सत्य है कि यदि यह हृदय अपना कार्य करना बन्द कर दे, तो हमारे सभी शारीरिक क्रिया-कलाप भी बन्द हो जाएँगे। परन्तु जब हम यह कहते हैं, 'मैं अपने हृदय से बोल रहा हूँ' या 'उसका हृदय पवित्र है' या 'तुम्हारी बातें हृदय से निकल रही हैं' – तो हमारा आशय उस हृदय से होता है जो भावना का स्रोत है। यह हृदय का दूसरा प्रकार है। प्रेम, भक्ति, नि:स्वार्थता, दया, सेवाभाव तथा विनम्रता – ये उदारता और सदाशयता के लक्षण हैं। तीसरे प्रकार का हृदय आध्यात्मिक हृदय है। इसे 'अनाहत चक्र' भी कहते हैं। (योगशास्त्र में स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरों के सन्धि-स्थान को 'चक्र' या केन्द्र कहा जाता है।)

जब हम हृदय में ध्यान करने की बात कहते हैं, तो हमारा अभिप्राय होता है कि हमें अपना मन आध्यात्मिक हृदय पर केन्द्रित करना चाहिए। हममें से अधिकांश लोगों की मानसिक ऊर्जा काफी-कुछ अपने दैहिक तथा जैविक जरूरतों की पूर्ति के प्रयास तथा अपने 'अहं' के संरक्षण में बिखरी रहती है। आध्यात्मिक जागरण के लिए 'मूलाधार' में प्रसुप्त 'कुण्डलिनी-शक्ति' को जाग्रत करना जरूरी है। मन को सभी बन्धनों से मुक्त कर लेना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि ध्यान करते समय हमारे मन को अनाहत-चक्र के स्तर तक ऊपर उठ जाना चाहिए। रमण महर्षि के शब्दों में – यदि हम 'मैं' के उद्गम की खोज जारी रखें, तो इस चक्र या आध्यात्मिक हृदय तक पहुँचना सम्भव हो सकता है।

पर यह प्रक्रिया आसान नहीं है। यह 'मैं' कौन है? और कहाँ से उत्पन्न होता है? जाग्रत अवस्था में 'मैं' अनेक लोगों के सम्पर्क में आता है। गहन निद्रा के समय वह कहाँ चला जाता है? जागने पर 'मैं' कहाँ से आ जाता है? 'मैं' के उत्स को ढूँढ़ने का प्रयास करते हुए हम एक ऐसी अवस्था में पहुँच जाते हैं, जहाँ से हम और आगे नहीं जा सकते। यही आध्यात्मिक हृदय है। परन्तु बहुत-से लोगों के लिए इस खोज में अध्यवसाय के साथ लगे रहना कठिन हो जाता है। भगवान से प्रार्थना करना एक अधिक सहज उपाय है।

प्रार्थना ध्यान का अनुपूरक है। तीव्र प्रार्थना की सहायता से ध्यान सहज हो जाता है। ध्यान शुरू करने के पूर्व १०-१५ मिनट तक एकाग्र-चित्त से प्रार्थना करना उत्तम है। जैसे गगन के मेघाच्छन्न होने पर वर्षा होती है, वैसे ही प्रार्थना में व्याकुलता आ जाने पर मन ऊपर उठकर भावनात्मक हृदय के स्तर को पार करके आध्यात्मिक हृदय तक पहुँच जाता है। तब आँखों में अश्रु भर जाते हैं। यह ईश्वर के लिए तीव्र व्याकुलता की शुरुआत है। यही ध्यान की परिपूर्णता है।

आध्यात्मिक जागरण

प्रत्येक व्यक्ति के भीतर सोये इस आध्यात्मिक केन्द्र को जगाना सम्भव है। इसके लिए मन:शुद्धि, कठोर ब्रह्मचर्य तथा ईश्वर के लिए तीव्र व्याकुलता की आवश्यकता होती है। विवाहित जीवन में पति-पत्नी भी संयम का मार्ग अपना कर इस आध्यात्मिक जागरण को प्राप्त कर सकते हैं। नित्य कम-से-कम दो या तीन घण्टे आन्तरिक प्रार्थना तथा ध्यान का अभ्यास करने से साधक कुछ ही वर्षों में ईश्वरीय कृपा की अनुभूति कर सकता है। हममें से अधिकांश लोग बिना किसी नियम का पालन किए केवल कुछ मिनट ध्यान में बैठकर ही शिकायत करने लगते हैं कि प्रार्थना और ध्यान के बावजूद उन्हें आध्यात्मिक जीवन में कुछ हासिल नहीं हुआ। हमें यह समझ लेना चाहिए कि आध्यात्मिक जागरण प्राप्त करने के लिए हमें अपने प्रयासों में निष्ठा और ईमानदारी लानी होगी।

आजकल ध्यान तथा योग के बारे में कई प्रकार के भ्रम फैले हैं। एकाग्रता मात्र को ही ध्यान नहीं समझ लेना चाहिए, दोनों में भेद है। ध्यान एक सचेतन, सक्रिय तथा आत्म-निर्देशित प्रक्रिया है। इसमें मन सौम्य, शान्त तथा सजग रहता है। यह विश्राम या निद्रा की सामान्य अवस्था नहीं है। ईश्वर के लिए तीव्र व्याकुलता तथा मन:शुद्धि के बिना ध्यान का अभ्यास करना वैसे ही है, जैसे कि ईंधन-रहित कार को चलाने

का प्रयास करना। तीव्र व्याकुलता के साथ प्रार्थना और ध्यान का अभ्यास करने पर आध्यात्मिक जागृति आती है। तब सूर्य की किरणों के स्पर्श से खिलते हुए कमल की भाँति हमारा हृदय-केन्द्र प्रकट हो उठता है और साधक में दैवी सम्पदा की वृद्धि होने लगती है। दिव्यता की यह झलक साधक को न केवल प्रोत्साहित करती है, अपितु उसमें अध्यात्म-पथ पर अग्रसर होने के लिए अपेक्षित अद्भुत आत्मविश्वास तथा उत्साह भी भर देती है।

इसे बुद्धि का जागरण कहा जाता है। यही गायत्री-मंत्र का सारतत्त्व है।*

आन्तरिक बल का भण्डार

प्रार्थना आन्तरिक बल तथा ऊर्जा का एक अक्षय स्रोत है। प्रार्थना से व्यक्ति की चेतना का कायाकल्प हो जाता है। वस्कुलर सर्जरी (नलिका-शल्यचिकित्सा) में अपने महत्त्वपूर्ण कार्यो के लिए नोबल पुरस्कार से सम्मानित डॉ. अलेक्सिस कैरल का दृढ़ मत है कि प्रार्थना के द्वारा व्यक्ति आध्यात्मिक शक्ति के इस स्रोत का दोहन कर सकता है। उन्हीं के शब्दों में, 'प्रार्थना व्यक्ति द्वारा उत्पन्न की जा सकनेवाली ऊर्जा का सर्वाधिक सशक्त रूप है। यह उतनी ही वास्तविक शक्ति है, जितनी कि पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण-शक्ति। एक चिकित्सक के तौर पर मैंने ऐसे लोगों को देखा है, जो अन्य सभी प्रकार के उपचारों के विफल हो जाने पर प्रार्थना के सौम्य प्रयास द्वारा रोग तथा निराशा से उबर सके हैं। रेडियम की भाँति ही प्रार्थना भी ज्योतिर्मय तथा स्वयंजनित ऊर्जा का एक स्रोत है। ... प्रार्थना करते समय हमारा सम्पर्क ब्रह्माण्ड-विधात्री अनन्त प्रेरक शक्ति से जुड़ जाता है। उस अवस्था में याचना करने पर भी, हमारी मानवीय कमियों की पूर्ति हो जाती है और हम सबल तथा चंगे हो उठते हैं। ... आकुल प्रार्थना के क्षणों में जब हम भगवान को पुकारते हैं, तब हमारे शरीर और आत्मा दोनों का ही कायाकल्प हो जाता है।'

यदि वैज्ञानिकों ने अपने प्रयासों को प्रार्थना की अनन्त शक्ति के अर्जन तथा उपयोग में लगाया होता, तो इससे पूरी मानव-जाति को काफी लाभ पहुँचा होता।

'मैं' नहीं, 'तू'

इस संसार में सज्जनों को बेईमान संसारी लोगों के हाथों दुःख भोगने पड़ते हैं। परन्तु अध्यात्म-जगत् या ईश्वरीय राज्य में ये विनम्र तथा सज्जन साधक ही ईश्वरीय कृपा प्राप्त करते हैं। अहंकार, प्रसिद्धि, पद, सम्पदा आदि हमें विनम्र नहीं बनने देते। ये भगवान का विस्मरण करा देते हैं। 'मैं', 'केवल मुझसे ही' 'केवल मेरे लिए ही' – ऐसे भ्रम हमें उन्मत्त बनाकर संसार-चक्र में धकेल देते हैं। इस अहंकार के कारण ही हमारी आध्यात्मिक उन्नति रुक जाती है। सांसारिक चीजों में लुब्ध व्यक्ति कभी ईश्वर को नहीं पा सकता। क्या यह सूर्योदय देखने की आशा में पश्चिम की ओर चलने के समान नहीं है? श्रीरामकृष्ण देव कहा करते थे, 'जैसे पर्वत की चोटी पर वर्षा का जल नहीं टिकता, वैसे ही अहंकारी लोग भगवत्कृपा नहीं पा सकते। अध्यात्म-जगत् में अग्रसर होने का अर्थ है – 'मैं' के भाव या अहंकार से दूर जाना।'

प्रार्थना ही अहंकार-नाश के लिए सर्वाधिक सशक्त हथियार है। एक साधक की प्रार्थना रहती है, 'हे प्रभो! मेरे अहं का नाश करके स्वयं को प्रकट करो, मेरे हृदय-कमल में निवास करो।' यही प्रार्थना की पराकाष्ठा है।

प्रार्थना की तीव्रता बढ़ने पर क्रमशः 'मैं' और 'मेरा' के भाव दूर होते जाते हैं। मन स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरों के स्तर से उठकर ईश्वर में डूब जाता है। तदुपरान्त हम अपने हृदय में भगवत्-सान्निध्य का अनुभव करने लगते हैं। जब हमें अपने अन्तर की गहराइयों में सर्वशक्तिमान प्रभु की उपस्थिति का सच्चा बोध होने लगता है, तो फिर हम स्वयं को दुर्बल प्राणी कैसे समझ सकते हैं? अपने हृदय में ही हम सर्वशक्तिमान ईश्वर के सान्निध्य की अनुभूति करते हैं। तब हम कैसे इस जगत् की किसी भी चीज से डर सकते हैं?

भगवान क्या सचमुच हैं?

किसका ईश्वर? कौन ईश्वर? वह कहाँ हैं? क्या धर्मान्धता, कट्टरता तथा असहिष्णुता स्वयं को ही दण्ड देना नहीं है?

वर्षों पूर्व जब मैंने मिकेल का चाँद पर उतरना पढ़ा था, तो यह जानकर मैं पुलकित हो उठा था कि मिकेल ने चन्द्रमा से पृथ्वी को देखा था और पृथ्वी उन्हें एक गेंद जैसी प्रतीत हुई थी। कैसी अद्भुत बात है! हमारी आवास यह पृथ्वी करीब १००० मील प्रति घण्टे की रफ्तार से अपनी धुरी पर घूमती है। इन घूर्णनों के दौरान करोड़ों मानव जन्मते हैं और कुछ काल यहाँ तक निवास करके पुनः अदृश्य हो जाते हैं।

यह कोई कल्पना-कथा नहीं, अपितु एक बोधगम्य सत्य है और हमारे आधुनिक विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की कृपा से अब कोई भी इससे इनकार नहीं कर सकता। इसी प्रकार सामान्यतया सूक्ष्म ब्रह्माण्ड कहे जानेवाले पदार्थ के सूक्ष्म अस्तित्व के बारे में भी हमें अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है।

आधुनिक विज्ञान हमें पदार्थ के सूक्ष्मतर पहलू में अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है। विस्तार में न जाकर, पदार्थ के वास्तविक

* यहाँ पर मैं अपने पाठकों को स्वामी यतीश्वरानन्द द्वारा लिखित 'ध्यान और आध्यात्मिक जीवन' नामक एक प्रामाणिक ग्रन्थ पढ़ने की सलाह दूँगा। प्रार्थना, जप तथा ध्यान का निष्ठापूर्वक अभ्यास करनेवाले साधकों को इस ग्रन्थ में अतिशय मूल्यवान दिशा-निर्देश प्राप्त होंगे और आध्यात्मिक अभियान के मार्ग में आनेवाली बाधाओं को दूर करने के उपायों की जानकारी भी मिलेगी।

स्वरूप के बारे में एक ही वक्तव्य पर्याप्त होगा – परमाणु एक ऐसा कण है, जिसका व्यास एक मिलीमीटर का करीब १ करोड़वाँ भाग होता है। प्रत्येक परमाणु इलेक्ट्रान, प्रोट्रान व न्यूट्रान नामक उप-परमाणुओं से बना है और यह अद्भुत ब्रह्माण्ड मूलभूत सूक्ष्म कणों-रूपी इन ईंटों से बना है।

नभ-मण्डल के बृहत् तारों की गति, परमाणुओं में सूक्ष्म इलेक्ट्रान की गति और मनुष्यों, पशुओं तथा वनस्पतियों के भौतिक शरीरों के ढाँचागत क्रिया-कलापों में एक पूर्ण व्यवस्थित क्रम और स्पष्ट सामंजस्य दिखाई देता है।

पश्चिम के आधुनिक वैज्ञानिकों ने भौतिक साधनों के माध्यम से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की अखण्डता प्रदर्शित की है। इससे एक कदम आगे बढ़ें, तो यह सम्पूर्ण जगत् की एकता के भाव तथा उस परम आध्यात्मिक तत्त्व की ओर भी संकेत करता है; जिसमें हम रहते, चलते-फिरते और जीवन-धारण करते हैं। वैश्विक सामंजस्य का अनुध्यान सर्वत्र उस परम सत्ता के अस्तित्व को प्रकट करता है।

महान् वैज्ञानिक आइंस्टीन इस एकता और सामंजस्य का वर्णन इन शब्दों में करते है, 'मेरा धर्म उस असीम सर्वोच्च सत्ता की विनम्र स्तुति में निहित है, जो हमारे दुर्बल मस्तिष्कों द्वारा ग्रहण किए जा सकनेवाले विवरणों के रूप में स्वयं को अभिव्यक्त करता है। उस परम सत्ता के अस्तित्व पर गहन भावनात्मक दृढ़ विश्वास ही मेरा ईश्वर सम्बन्धी विचार है।'

प्रकृति की क्रियाओं तथा उसके प्रत्येक अंग में जीवन और बुद्धितत्त्व (चेतना) का अनुभव करने में समर्थ होने के लिए महान् पवित्रता तथा अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता है। श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य स्वामी रामकृष्णानन्द जी कहते हैं – सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही सर्वज्ञता से परिपूर्ण है।

उपनिषद् घोषणा करते हैं, 'वे एक ईश्वर सभी प्राणियों में छिपे हैं। वह सर्वव्यापी तथा सभी जीवों की अन्तरात्मा हैं। वे ही सभी कर्मों के प्रेरक हैं और सभी प्राणी उन्हीं में निवास करते हैं। वे साक्षी हैं और प्रकृति के तीनों गुणों से अतीत शुद्ध चैतन्य हैं।'

तेजोबिन्दु उपनिषद् (१.२९) कहता है, 'दृष्टि को बोधमयी बनाकर विश्व को ईश्वरमय देखो।' आकाश तथा जगत् में चारों ओर हम जो कुछ देखते हैं, उनका गहन चिन्तन ही 'बोधमयी दृष्टि' है। और निम्नलिखित श्लोकों में वर्णित आन्तरिक चिन्तन सर्वव्यापी परमात्मा को व्यक्त करता है।

'हिमालय, महासागर, नदियाँ तथा सभी दिशाएँ जिसकी महिमा का उद्घोष करती हैं, हम पवित्र उपहार के साथ उन ईश्वर की उपासना करें।' (ऋग्वेद १०.१२१.३) सभी दिशाओं के भूभागों में ऊपर और चतुर्दिक व्याप्त अंश अर्थात् आकाश और विश्व शामिल हैं। इस प्रकार इस श्लोक का निहितार्थ यह है कि प्रकृति सर्वत्र ईश्वर की महिमा का उद्घोष करती है, ताकि हम उन्हें जान सकें।

ऋग्वेद, उपनिषदों और भगवद्गीता आदि हिन्दू धर्मशास्त्रों के ऋषि-मुनियों की प्रमुख अन्तर्दृष्टि यह है कि इस ब्रह्माण्ड में एक मूलभूत एकता है। वे घोषित करते हैं कि सर्वोच्च आध्यात्मिकता की दृष्टि से समग्र मानवता एक है।

वह मूलभूत तत्त्व (ईश्वर) किसी एक ही अभिव्यक्ति में समाप्त नहीं हो जाता। वह विभिन्न व्यक्तियों के रूप में प्रकट होता है। यह किसी एक ही रूप में कभी पूर्णतया समाहित नहीं होता। हिन्दुओं में पूर्णता-प्राप्ति के लिए विभिन्न पथों की स्वीकृति और सहिष्णुता के भाव के पीछे इस बहुआयामी अभिव्यक्ति के सिद्धान्त की अनुभूति निहित है।

यहाँ पर यह जान लेना बड़ा रोचक है कि धार्मिक एकता लाने में विज्ञान हमारी काफी मदद कर सकता है।

फ्रिट्ज काप्रा के अनुसार, 'ब्रह्माण्ड की मूलभूत एकता आधुनिक भौतिक विज्ञान के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रहस्योद्घाटनों की केन्द्रीय विशेषता रही है।' प्राच्य-विद्या निरन्तर उस परम अखण्ड सत्ता की ओर संकेत करती हैं, जो सभी वस्तुओं के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है और सभी वस्तुएँ जिसका अंश हैं। हिन्दू धर्म में इसे 'ब्रह्म', बौद्धधर्म में 'धर्मकाय' तथा ताओ धर्म में 'ताओ' कहा जाता है।

विभिन्न धर्मों के बीच संघर्ष का मूल कारण धर्मों के आध्यात्मिक आयाम के बारे में समझ का अभाव है। १८९३ में शिकागो में आयोजित विश्वविख्यात धर्म-महासभा में हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि स्वामी विवेकानन्द ने अपने समापन भाषण में कहा था, 'यदि इस महासभा ने दुनिया के समक्ष कुछ प्रदर्शित किया है तो वह यह है – इसने यह सिद्ध कर दिया है कि साधुता, पवित्रता तथा दयाशीलता किसी सम्प्रदाय-विशेष की बपौती नहीं है और प्रत्येक धर्म में ही अति उन्नत चरित्र के नर-नारियों का जन्म हुआ है। समस्त प्रतिरोधों के बावजूद शीघ्र ही प्रत्येक धर्म की पताका पर लिखा होगा – 'संघर्ष नहीं – सहायता; विनाश नहीं – ग्रहण; मतभेद और कलह नहीं – समन्वय और शान्ति।'

इसमें कोई सन्देह नहीं कि विश्व-धर्म-महासभा संसार के इतिहास में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना थी। इसने धर्ममतों के बीच आपसी समझ के आन्दोलन का सूत्रपात किया, जिसमें हाल के वर्षों में भी कुछ प्रगति हुई है। इसका उद्देश्य केवल इतना था कि विभिन्न धर्मों के अनुयाइयों के बीच बेहतर समझदारी और सहयोग का मार्ग निकाला जाय। एक तरह से यह १९वीं सदी के अन्त में प्रस्तुत भावी शताब्दियों के लिए एक धार्मिक कार्यसूची थी। धर्मों के सामान्य आधार के बारे में हम सभी जानते हैं कि वे सभी विश्वास के समान

नमूने प्रकट करते हैं। वे प्रेरित शास्त्रों में विश्वास, संस्थापक के वैशिष्ट्य, ब्रह्माण्ड की नीति-व्यवस्था, मरणोत्तर जीवन आदि पर आधारित हैं। वे सन्तों तथा अतीन्द्रिय अनुभूतियों को महत्त्व देते हैं। वे सभी – सत्य, पवित्रता, दानशीलता, प्रेम, विनम्रता और अन्य सद्गुणों की शिक्षा देते हैं।

सभी धर्मों का दृढ़ मत है कि मनुष्य एक उच्चतर नियति का अधिकारी है, जिसे मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, कैवल्य आदि विभिन्न नामों से जाना जाता है। सभी धर्म यह मानते हैं कि ईश्वर-प्रेम, हृदय की पवित्रता और नैतिक पूर्णता के द्वारा इस लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

हाल के वर्षों में तुलनात्मक धर्म के अध्ययन ने एक नया मोड़ ले लिया है। अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि किसी धर्म का समालोचक बनकर नहीं, अपितु विश्वासी बनकर ही उस धर्म का सम्यक् बोध प्राप्त किया जा सकता है। तात्पर्य यह कि धर्म का आन्तरिक परिदर्शन ही उसकी सत्यता का सही आकलन प्रदान कर सकता है। धर्म को समझने का यह मार्ग धर्म का phenomenological (प्रत्यक्ष-वादी) अध्ययन कहलाता है।

यही भगवान श्रीरामकृष्ण के जीवन तथा उपदेशों द्वारा निर्दिष्ट सभी धर्मों में आपसी सद्भाव की पृष्ठभूमि है। १९वीं सदी के धर्म-समन्वय के इन मसीहा ने हिन्दू धर्म, इस्लाम तथा ईसाई धर्म उपदेशों के सार-तत्त्व की उपलब्धि करने के बाद यह घोषणा की कि सभी महान् धार्मिक परम्पराएँ साधकों को उन्हीं एक ईश्वर तक पहुँचाती हैं। उनका आदर्श वाक्य था, 'जितने मत उतने पथ।' वैदिक धार्मिक परम्परा घोषित करती है – **एकं सद्-विप्रा बहुधा वदन्ति** – 'सत्य एक है और ज्ञानी लोग उसका विविध प्रकार से वर्णन करते हैं। इसी के अनुयायी के रूप में श्रीरामकृष्ण की विविध धर्मों के प्रति उदारता एवं स्वीकृति का भाव होना स्वाभाविक था।

श्रीरामकृष्ण के भाव को समझने के लिए एक बात हमें स्पष्ट रूप से ध्यान में रखनी होगी। उनके लिए धर्म का अर्थ उसके *आध्यात्मिक सार-तत्त्व से था*। परमेश्वर की खोज तथा उसके सहायक साधन ही धर्म के सार-तत्त्व होते हैं।

उन्होंने धार्मिक एकता की तुलना एक विशाल सरोवर से की, जिसमें से जल लेने के लिए लोग विभिन्न मार्गों से आते हैं। सरोवर तक पहुँचनेवाला हर व्यक्ति जल प्राप्त करता है। अपने रास्ते को दूसरों से श्रेष्ठ बताकर आपस में झगड़ना व्यर्थ है। इसी प्रकार सच्चिदानन्द-रूपी सरोवर तक पहुँचने के अनेक मार्ग हैं। हर धर्म एक मार्ग है। यदि आप सच्चे तथा निश्छल हृदय से किसी भी मार्ग का अनुसरण करेंगे, तो आखिरकार शाश्वत परमानन्द के जल तक पहुँच जायेंगे।

लोगों के मन में एक भ्रान्तिपूर्ण धारणा है कि हिन्दू धर्म बहु-देववादी है। यह सच नहीं है। विभिन्न देवी-देवता एक ही परमेश्वर की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। जल का कोई अपना रूप नहीं है। पर जमकर बर्फ बन जाने पर यह कोई भी रूप ले सकता है। हम जानते हैं कि बर्फ जल के सिवा अन्य कुछ भी नहीं है। ईश्वर एक सामान्य मानव की तरह मनुष्य नहीं हैं, परन्तु वे हमारे परम आत्मीय बन सकते हैं। वे हमारी इच्छा के अनुरूप कोई भी आकार ग्रहण कर सकते हैं। ईश्वर सर्व-शक्तिमान, सर्वज्ञ तथा सर्वव्यापी हैं और वे भक्तों के अन्तरंग विचारों को भी जानने में समर्थ हैं।

जो लोग धर्म के नाम पर संकीर्ण-कट्टर विचारों का प्रचार करते हैं और अन्य धर्म के अनुयाइयों द्वारा स्वीकृत ईश्वर तथा उनकी उपासना की विभिन्न धारणाओं के बारे में द्वेष फैलाते हैं, वस्तुतः वे पूर्ण सत्य के विषय में अपने अज्ञान के चलते स्वयं को तथा अपने नासमझ अनुयाइयों को हानि ही पहुँचाते हैं। यदि कोई कहे कि मेरी पुस्तक में लिखा है कि 'पृथ्वी चपटी है' और प्रबल आग्रह के साथ उसका प्रचार करे, तो क्या यह सच्चाई से मुँह फेरना नहीं होगा?

हमारा विश्वास है कि जीवन तथा सत्य के विषय में एक सर्वांगीण दृष्टिकोण के आधार पर ही शान्ति की समस्या का स्थायी समाधान पाया जा सकता है। धर्म अब भी संघर्ष, घृणा, हिंसा तथा युद्ध का एक प्रमुख स्रोत बना हुआ है।

सभी विश्व-धर्मों के लिए सत्य से उद्भूत इस सार्वभौमिक नैतिक निष्कर्ष तक पहुँच जाना आवश्यक है कि ईश्वर, ब्रह्म, अल्ला, गॉड आदि कहे जानेवाले परम आध्यात्मिक सत्ता में समग्र मानवता एक है। ऐसा ही एकत्ववादी नैतिक सिद्धान्त विश्व में शान्ति एवं सौहार्द्र की स्थापना में सहायक होगा।

❖ (समाप्त) ❖

हिन्दू धर्म की रूपरेखा (३)

स्वामी निर्वेदानन्द

(प्राचीन काल में वैदिक या सनातन धर्म और वर्तमान में हिन्दू धर्म के रूप में प्रचलित धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है और विश्व के अन्य धर्मों से इसमें क्या समानता व भेद है, इसे समझ पाना हिन्दुओं के लिए भी अति आवश्यक है। विद्वान् लेखक ने अपने बँगला तथा अंग्रेजी ग्रन्थ में इस धर्म के मूल तत्त्वों का बड़ा ही सहज निरूपण किया है। उसका हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

अध्याय ४

संसार

पुनर्जन्म और कर्मवाद

हिन्दुओं के लिए 'संसार' शब्द एक विशेष अर्थ रखता है। हममें से अधिकांश लोग इस शब्द से परिचित होते हुए भी इसका वास्तविक अर्थ नहीं जानते। आम तौर पर संसार का अर्थ हम यह जगत् या पारिवारिक जीवन समझते हैं। हिन्दू शास्त्र बताते हैं कि हमें वर्तमान जगत् तथा अन्य अनेक सूक्ष्म एवं उच्चतर लोकों से होकर बारम्बार आवागमन करना पड़ता है।[१] जीवात्मा के इस बारम्बार गमन या संसरण को ही संसार कहते हैं। सम्यक् अर्थवाले सम् उपसर्ग के साथ गमन अर्थवाले 'सृ' धातु के योग से निष्पन्न होनेवाले संसार शब्द का यही अर्थ है।

संसार की इस धारणा पर पूरा हिन्दू धर्म टिका हुआ है। इससे यह भी पता चलता है कि हिन्दू लोग किस दृष्टिकोण के आधार पर अपना पूरा जीवन बिताते हैं। मृत सम्बन्धियों के लिए हम पिण्डदान क्यों करते हैं? क्योंकि हमारा विश्वास है कि वे किसी सूक्ष्म-लोक या इसी जगत् में किसी अन्य स्थूल शरीर में विद्यमान हैं। पति की मृत्यु हो जाने पर हिन्दू-नारी विधवा का जीवन अंगीकार करती है, क्योंकि उनका विश्वास है कि आजीवन पतिव्रता रहने पर मृत्यु के बाद वे पुन: अपने पति से मिल सकेंगी। इसी प्रकार हिन्दू लोग स्वर्ग-सुख पाने की इच्छा से पुण्य-कर्म करते हैं तथा परलोक में दण्ड के भय से पापों से दूर रहते हैं। पुनर्जन्मवाद से ही हिन्दुओं में इस प्रकार के विश्वासों तथा अनुष्ठानों की उत्पत्ति हुई है। पुनर्जन्म-सम्बन्धी यह धारणा कल्पना-प्रसूत नहीं है। यह हिन्दू ऋषियों के प्रत्यक्षानुभव द्वारा सत्यापित किया हुआ सिद्धान्त है।

हिन्दुओं के जीवन पर पुनर्जन्मवाद का काफी प्रभाव है। इसीलिए हिन्दू धर्म की चर्चा करने के पूर्व हमारे लिए इस विषय में एक स्पष्ट धारणा बना लेने की आवश्यकता है।

मृत्यु के बाद हमारे अस्तित्व का लोप नहीं होगा। इस जन्म के पूर्व भी हम सभी को असंख्य जन्म ग्रहण करने पड़े हैं। गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं – "हे अर्जुन! इस जन्म के पूर्व भी तुम और मैं अनेक जन्म पार कर आये हैं; परन्तु मैं उन्हें जानता हूँ, तुम नहीं जानते।"[२] उन्होंने यह भी कहा है – "जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जन्म अपरिहार्य है।"[३] जीव के अन्तर्निहित देवत्व का पूर्ण विकास न होने तक उसे जगत् में बार-बार नये-नये शरीरों में आना पड़ता है और उनमें कुछ दिन रहने के बाद, उनके जीर्ण हो जाने पर मृत्यु-मुख में जाना पड़ता है, परन्तु देह में स्थित शरीरी (आत्मा) सदा नवीन बना रहता है। जीवात्मा अनुपयोगी जीर्ण देह से बाहर निकलने के बाद कुछ काल सूक्ष्म जगत् में निवास करती है और तदुपरान्त पृथ्वी पर आकर नया शरीर धारण करती है। सूक्ष्म जगतों में या तो प्रभूत सुखों या तीव्र पीड़ाओं का भोग करना पड़ता है; यही कारण है कि उन्हें **भोगभूमि** कहते हैं। परन्तु पूर्णता पाने के लिए सभी को इस पृथ्वी पर आना पड़ता है, अत: इसे **कर्मभूमि** कहा गया है। पूर्णता न पाने तक जीव को बार-बार जन्म लेना पड़ता है और तब तक वह बद्ध जीव कहलाता है। उसका बन्धन ही उसके बारम्बार आवागमन (संसार) का कारण है।

प्रत्येक जन्म में हमें नया शरीर मिलता है। स्थूल पदार्थों से बना होने के कारण इसे **स्थूल शरीर** भी कहते हैं। फिर स्थूल आहार (अन्न) से पोषित होने के कारण यह **अन्नमय कोष** भी है। स्थूल शरीर हमारा बाह्य आवरण, मानो हमारा घर है। घर गिर जाने पर हम उससे बाहर चले जाते हैं और एक नया घर बनवाते हैं। ठीक वैसे ही शरीर जब अनुपयोगी हो जाता है, तब उसे छोड़कर हमें नया शरीर लेना पड़ता है। गीता में शरीर के लिए वस्त्र से उपमा दी गई है। जैसे कपड़ा फट जाने पर हम उसे फेंक कर नया कपड़ा पहनते हैं, वैसे ही शरीर के जीर्ण होने पर हम उसे छोड़कर नया शरीर धारण करते हैं,[४] इस जीर्ण तथा अनुपयोगी शरीर को त्यागने को **मृत्यु** और नये को धारण करने को **जन्म** कहते हैं। इस प्रकार हम जन्म-मृत्यु के माध्यम से जीर्ण शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण करते हैं। हम सबको असंख्य बार शरीर बदलना पड़ा है। जो लोग इस तत्त्व को जानते हैं, वे मृत्यु की चिन्ता से भयभीत या शंकित नहीं होते।

इस स्थूल शरीर के भीतर हमारा एक सूक्ष्मतर व दृढ़तर शरीर है, जिसे **सूक्ष्म शरीर** कहते हैं। इस पर रोग, वार्धक्य तथा मृत्यु का असर नहीं होता। प्रकृति में ऐसी कोई चीज

१. देखिए – गीता, ८/१६

२. गीता, ४/५ ३. गीता, २/२७ ४. गीता, २/२२

नहीं जो इसे नष्ट कर सके। बीते हुए असंख्य जन्मों के दौरान यह सूक्ष्म शरीर ही हमारा अभिन्न साथी रहा है।

सूक्ष्म शरीर के सत्रह अंग हैं – बुद्धि, मन, पंचप्राण तथा दस सूक्ष्म इन्द्रियाँ।[५] यह सूक्ष्म-शरीर ही स्थूल-शरीर को गढ़ता है तथा परिचालित करता है। हमारे विचार, इच्छा तथा अनुभूतियाँ इस सूक्ष्म-शरीर के कार्य हैं और वस्तुत: ये ही हमारी सत्ता के सक्रिय तथा गतिशील अंश हैं।

किन्तु इस सूक्ष्म शरीर की भी क्रिया-शक्ति अपनी नहीं है। यह स्थूल-शरीर को चलाती अवश्य है, पर स्थूल-शरीर के ही समान यह भी जड़-स्वभाव है। सूक्ष्म-शरीर भी एक अन्य सत्ता की प्रेरणा से सजीव होकर कर्म में प्रवृत्त होता है। यह सत्ता ही मनुष्य का सच्चा स्वरूप – उसकी आत्मा है।

यह आत्मा ही सारे जीवन, उद्यम व चेतना का मूल स्रोत है।[६] जैसे सूर्य से प्रकाश लेकर चन्द्रमा पृथ्वी को आलोकित करता है, ठीक वैसे ही सूक्ष्म-शरीर भी आत्मा के सजीव-स्पर्श से सचेतन होकर स्थूल-शरीर को सजीव करता है।

आत्मा के स्पर्श से सजीव होकर सूक्ष्म-शरीर जब तक सम्भव हो, स्थूल-शरीर को चलाने के बाद, उसे त्यागकर एक नया शरीर गढ़ना आरम्भ कर देता है और इसी प्रकार हमारी एक जन्म से दूसरे जन्म की शृंखला चलती रहती है।

कर्मवाद

परन्तु मनुष्य को बार-बार क्यों जन्म लेना पड़ता है? इस विषय में हिन्दू शास्त्रों का उत्तर बिल्कुल स्पष्ट है। मन के पूर्णत: निर्मल हो जाने पर ही व्यक्ति के हृदय-देवता की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है और वह अपना चरम लक्ष्य प्राप्त करता है। पर इसमें काफी समय लगता है, जिसकी तुलना में हमारा जीवन अल्पकालिक है। एक स्थूल शरीर इतने दिन चल नहीं सकता, अत: हमें बारम्बार जन्म लेना पड़ता है।

हमारी इन्द्रियाँ स्वभाव से ही जगत् की कुछ वस्तुओं की ओर आकृष्ट तथा और कुछ से विरत होती हैं। फलत: कुछ वस्तुओं को पाने और कुछ से बचने की इच्छा उत्पन्न होती है। इस प्रकार हमारा मन सदा तरह-तरह की कामनाओं से भरा रहता है और उन्हें पूरा करने की चेष्टा अविराम चलती रहती है। **कामना-पूर्ति की यह सतत चेष्टा ही हमारे जीवन का इतिहास है।** पर कामनाओं का कोई अन्त नहीं; वे दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जाती हैं। एक कामना पूरी होते ही इन्द्रियों की भोग-लालसा और तीव्र हो जाती है। इसी प्रकार नई-नई कामनाएँ पैदा होती रहती हैं। इन्हीं अनन्त दुर्निवार कामनाओं की पूर्ति के लिए हम तरह-तरह के कर्मों में जुटे रहते हैं।

कामनाओं को पूर्ण करने के लिए हम जो भी काम करते हैं, उनका फल होता है – सुख या दु:ख। **भले कर्मों का फल सुख तथा बुरे कर्मों का फल दुख होता है।** प्रत्येक कर्म यथासमय अवश्य फलदायी होता है। चूँकि सामान्यत: मनुष्य में भली व बुरी दोनों तरह की ही कामनाएँ होती हैं, अत: उसे भले व बुरे दोनों प्रकार के कर्म करने पड़ते हैं और इसके फलस्वरूप उसके सुख-दुख का बोझ बढ़ता जाता है।

पूर्वसंचित कर्मों का इस जन्म में भोगा जानेवाला अंश **प्रारब्ध** कहलाता है और भविष्य में भोगे जाने के लिए बचा हुआ अंश **संचित-कर्म** कहलाता है। इस जीवन का कर्मफल **क्रियमाण** के रूप में जमा होता है। इस प्रकार अपने किये का फलभोग करने हेतु हमें बारम्बार जन्म लेना पड़ता है।

मान लीजिए एक बालक जन्म से अन्धा है। उसका यह अन्धापन अवश्य ही किसी शारीरिक कारण से है। पर हिन्दू शास्त्रों के मतानुसार इससे उसे जो मानसिक पीड़ा होती है, उसका मूल कारण उसके पिछले किसी जन्म का कोई दुष्कर्म है। काफी चेष्टा के बाद भी जब हम किसी कार्य में असफल होते हैं, तो भाग्य को धिक्कारते हैं और जब बिना किसी प्रयास के ही हमें अप्रत्याशित सफलता मिल जाती है, तब हम आनन्दित होकर अपने भाग्य को धन्यवाद देते हैं। यह **भाग्य और कुछ नहीं, पिछले जन्मों में किये समस्त कर्मों का फल है। अत: भाग्य को धिक्कारना या धन्यवाद देना व्यर्थ है।** भाग्य तो संसार का स्वाभाविक नियम है – हमारे पिछले कर्मों का अनिवार्य फल है। पूर्व-जन्मों के कर्मों के फलस्वरूप, जो सुख-दुख आते हैं, उनसे हम बच नहीं सकते। **हम स्वयं ही उसके निर्माता हैं।** हमारे द्वारा लगाये गये वृक्ष का फल हमारा ही प्राप्य है। अत: हमारे व्यक्तिगत जीवन में जो रोग-शोक आदि दु:ख आते हैं, उनके लिए हमें किसी अन्य वस्तु या व्यक्ति को उत्तरदायी बनाने का अधिकार नहीं है।

परन्तु एक कार्य हम कर सकते हैं और वह यह कि यदि **हम चाहें तो हमारा भावी जीवन सुखी हो सकता है।** हमारा भावी जीवन पूर्णत: हमारे वर्तमान जीवन के कर्मों पर निर्भर करता है। **हमारे ही हाथों में अपने भविष्य के निर्माण की क्षमता है।** यदि हम शास्त्र-निषिद्ध बुरे कर्मों को छोड़कर, शास्त्र-निर्दिष्ट भले कर्मों में प्रवृत्त हो जायँ, तो हम निश्चित रूप से अपने भावी जीवन को सुखी बना लेंगे।

संक्षेप में, कर्मवाद के विषय पर हिन्दू-शास्त्रों की यही शिक्षा है। कामना से ही कर्म, कर्म से ही सुख-दुख रूपी कर्मफल और कर्मफल को भोगने के लिए ही बारम्बार जन्म लेना पड़ता है। इस प्रकार हमारी कामनाएँ ही हमें जन्म-मृत्यु के अन्तहीन भँवर में डालकर घुमा रही हैं और इसी का नाम संसार है।

❖ **(क्रमश:)** ❖

५. दस इन्द्रियाँ – ज्ञानेन्द्रियाँ - आँख, कान, नाक, जीभ तथा त्वचा; कर्मेन्द्रियाँ - हाथ, पैर, जीभ, लिंग व गुदा ६. दृग्दृश्यविवेक, १६

स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण (१)

कु. जोसेफिन मैक्लाउड, अमेरिका

२९ जनवरी १८९५ ई० को मैं अपनी बहन के साथ न्यूयार्क ५४ वेस्ट, ३३ नं० स्ट्रीट के मकान में गयी। उसी भवन के बैठकखाने में मैंने पहली बार स्वामीजी की बातें सुनीं। वहाँ कोई १५-२० महिलाएँ तथा २-३ पुरुष उपस्थित थे। कमरा भरा हुआ था। सभी कुर्सियाँ पहले से ही भरी होने के कारण मैं सामने जाकर फर्श पर बैठ गयी। स्वामीजी एक कोने में खड़े थे। उन्होंने जो पहला वाक्य कहा, वह मुझे स्मरण तो नहीं, पर वह मुझे तुरन्त सत्य प्रतीत हुआ। उन्होंने जो दूसरा वाक्य कहा वह भी सत्य था और उसी प्रकार उनका तीसरा वाक्य भी सत्य था। उसके बाद सात वर्ष तक मैंने उनकी बातें सुनीं और उन्होंने जो कुछ भी कहा वह मेरे लिए सत्य था। उसी क्षण से मेरे जीवन का तात्पर्य बदल गया। मानो वे लोगों में एक ऐसी अनुभूति जगा देते थे कि वे असीम में निवास कर रहे हों। उस भाव में कोई परिवर्तन नहीं होता था। यह वैसे ही था जैसे सूर्य को एक बार देख लेने से उसे भूला नहीं जा सकता।

उस पूरे जाड़े के मौसम में मैं उनकी कक्षाओं में उपस्थित रही, जो सप्ताह में तीन दिन पूर्वाह्न में ११ बजे होती थीं। मैंने किसी दिन उनके साथ बातचीत नहीं की, पर चूँकि हम नियमित रूप से उनकी कक्षा में जाया करती थीं, स्वामीजी के उस बैठकखाने में सामने की पंक्ति में दो कुर्सियाँ हमारे लिए आरक्षित रहती थीं। एक दिन वे हमारी ओर उन्मुख होकर बोले, "तुम दोनों क्या बहनें हो?" हमने कहा, "हाँ।" तब उन्होंने पूछा, "क्या तुम लोग काफ़ी दूर से आती हो?" हमने उत्तर दिया, "नहीं, अधिक दूर से नहीं, बस, हडसन नदी के तीस मील आगे से।" वे बोले, "इतनी दूर से? बड़ी अद्‌भुत बात है।" उनके साथ यही हमारा प्रथम वार्तालाप था।

मुझे हमेशा से ही महसूस होता रहा है कि मैं जीवन में जिन लोगों से मिली हूँ, उनमें स्वामी विवेकानन्द के बाद श्रीमती रोथलिस-बर्जर ही सर्वाधिक आध्यात्मिक व्यक्ति थीं। वे ही हमें स्वामीजी के पास ले गयीं। स्वामीजी के हृदय में उनके लिए भी बहुत बड़ा स्थान था। एक दिन मैं उनके साथ जाकर बोली, "स्वामीजी, क्या आप हमें बतायेंगे कि ध्यान कैसे किया जाता है?" उन्होंने कहा, "एक सप्ताह तक ॐ पर ध्यान करो और उसके बाद आकर मुझे बताना।" अत: एक सप्ताह के बाद हम फिर गयीं और श्रीमती रोथलिस-बर्जर ने कहा, "मुझे एक रोशनी दिखती है।" उन्होंने कहा, "अच्छा है, करती रहो।" मैंने कहा, "अरे नहीं, वह तो हृदय में एक ज्योति-सी दिखती है।" और उन्होंने मुझसे कहा, "करती रहो।" बस इतना ही उन्होंने मुझे सिखाया था। परन्तु हम उनसे मिलने के पहले भी ध्यान किया करती थीं और हमें गीता कण्ठस्थ थी। मुझे लगता है कि उसी ने हमें उनकी प्रचण्ड जीवन-शक्ति को पहचानने के लिए प्रस्तुत किया था। वे दूसरों के अन्दर जिस साहस का संचार कर देते थे, सम्भवत: इसी में उनकी शक्ति का बोध होता था। कभी ऐसा नहीं लगता कि वे अपने बारे में सोच रहे हों, उनकी रुचि दूसरे लोगों में ही थी। वे कहते, "जब जीवन की पुस्तक खुलने लगती है, तभी मजा आरम्भ होता है।" वे हमें यह बोध कराने का प्रयास करते कि जीवन में कुछ भी धर्मविरुद्ध नहीं – सब कुछ पवित्र है। वे हमसे सर्वदा कहते, "सदा स्मरण रखना कि संयोगवश एक अमेरिकी या नारी के रूप में जन्म लेकर भी, स्वरूपत: तुम सदा ईश्वर की सन्तान हो। दिन-रात स्वयं को अपना स्वरूप याद कराती रहना। इसे कभी भूलना मत।" उनकी उपस्थिति प्रबल थी। जैसे अपने पास धन हुए बिना दूसरों को दिया नहीं जा सकता, वैसे ही आध्यात्मिक शक्ति के रहे बिना भी उसका दूसरों में संचार नहीं किया जा सकता। संचार की कल्पना मात्र हो सकती है, पर इसे क्रियान्वित नहीं किया जा सकता।

हमने कभी उनसे बातें नहीं कीं, उनके साथ कोई विशेष सम्पर्क नहीं रखा, परन्तु उस वसन्त के मौसम में एक रात हमें श्री फ्रांसिस लेगेट के घर से भोजन का निमंत्रण मिला था। श्री लेगेट बाद में मेरे बहनोई हुए। हमने कहा, "हम आपके साथ भोजन तो कर सकती हैं, परन्तु यह अपराह्न का समय आपके घर नहीं बिता सकतीं।" उन्होंने उत्तर दिया, "अच्छी बात है, तो केवल भोजन ही कीजिए।" खाना हो जाने के बाद उन्होंने पूछा, "आज अपराह्न में आप लोग कहाँ जा रही हैं?" हमने कहा, "हम एक व्याख्यान सुनने जा रही हैं।" उन्होंने फिर पूछा, "क्या मैं भी आ सकता हूँ?" हम बोलीं, "हाँ।" वे आये और व्याख्यान भी सुना। व्याख्यान समाप्त हो जाने के बाद श्री लेगेट ने स्वामीजी के पास जाकर उनसे हाथ मिलाने के बाद कहा, "स्वामीजी, आप मेरे साथ भोजन करने कब आयेंगे?" उन्होंने ही स्वामीजी के साथ हमारा सामाजिक रूप से परिचय करा दिया।

कैट्सकिल की पहाड़ियों में श्री लेगेट का 'रिजली मैनर' नामक एक उद्यान-भवन था। स्वामीजी वहाँ आये और कुछ दिन रहे। उस समय उनके कुछ शिक्षार्थियों ने कहा था, "परन्तु स्वामीजी, आप नहीं जा सकते। कक्षाएँ जो चल रही हैं!" स्वामीजी ने अत्यन्त मर्यादित भाव से कहा, "क्या वे

मेरी कक्षाएँ हैं? हाँ, मैं जाऊँगा।'' वे सचमुच ही चले गये। वहाँ रहते समय स्वामीजी की मेरी बहन की सन्तानों के साथ भेंट हुई थी। उस समय उनकी बारह-चौदह साल की आयु थी। स्वामीजी के (वापस) न्यूयार्क चले आने के साथ-ही-साथ कक्षाएँ जब पुन: आरम्भ हुईं, तब उनकी बात उन्हें याद होगी, ऐसा नहीं लगा। वे लोग अत्यन्त विस्मित होकर बोले, ''स्वामीजी हम लोगों को याद नहीं करते।'' हम उनसे बोले, ''कक्षा समाप्त हो जाने तक इन्तजार करो।'' स्वामीजी जब भी व्याख्यान देते, उस समय पूरी तौर से व्याख्यान के विषय में ही डूब जाते। व्याख्यान समाप्त हो जाने के बाद यह दिखाते हुए कि उनकी उन्हें याद है, वे उनके पास आकर बोले, ''बच्चो, तुम्हें फिर देखकर मुझे बड़ा आनन्द हुआ है।'' बच्चे बहुत खुश हुए।

सम्भवत: इन्हीं दिनों, जब वे न्यूयार्क में हमारे मेहमान थे, एक दिन वे बड़े चुप और धीर-गम्भीर भाव के साथ घर लौटे। कई घण्टे तक वे कुछ बोले नहीं। आखिरकार हमने उनसे पूछा, ''स्वामीजी, आज आपने क्या किया?'' वे बोले, ''आज मैंने एक ऐसी चीज देखी है, जो केवल अमेरिका में ही सम्भव है। मैं बस में बैठा था। मेरी एक ओर हेलेन गोल्ड बैठी थीं और दूसरी ओर एक निग्रो धोबिन अपनी गोद में अपने धोये हुए कपड़े लेकर बैठी थी। अमेरिका के अतिरिक्त अन्य कोई भी देश ऐसा दृश्य नहीं दिखा सकता।''

उस वर्ष के जून में स्वामीजी श्रीयुत लेगेट के मेहमान के रूप में क्रिस्टिन लेक (एन.एच.) पर स्थित कैम्प पर्सी गये। वहाँ पर वे मि. लेगेट के मत्स्याखेट-शिविर में अतिथि हुए। हम लोग भी गयी थीं। वहीं पर मि. लेगेट के साथ मेरी बहन का विवाह होना तय हुआ। स्वामीजी को भी विवाह में उपस्थित रहने के लिए निमंत्रण दिया गया। वे जितने दिन भी शिविर में रहे, श्वेत-शुभ्र भुर्ज के वृक्षों के नीचे बैठकर घण्टों ध्यान किया करते थे। बिना हम लोगों को बताये ही, उन्होंने संस्कृत तथा अंग्रेजी में लिखकर भोजपत्र की दो सुन्दर पुस्तकें बनायीं और उन्हें मेरी बहन तथा मुझे प्रदान किया।

इसके बाद जब मेरी दीदी तथा मैं उसके लिए विवाह की पोशाक खरीदने पेरिस की ओर रवाना हुए और स्वामीजी सहस्र-द्वीपोद्यान चले गये। वहाँ उन्होंने डेढ़ महीने तक वे अद्‌भुत उपदेश दिये। 'देववाणी' नाम से प्रकाशित उनके वे उपदेश ही मुझे सर्वाधिक सुन्दर प्रतीत होते हैं, क्योंकि वे अन्तरंग शिष्यों को दिये गये थे। वह उत्कृष्ट वस्तु उन्होंने अपने शिष्यों को दी थी, जबकि मैं उनके मित्र के सिवा कभी और कुछ नहीं हुई। मुझे लगता है कि उन दिनों उनका हृदय जैसा व्यक्त हुआ, वैसा और कभी नहीं हुआ।

अगस्त में वे श्रीयुत लेगेट के साथ पेरिस आये। वहाँ मेरी बहन तथा मैं 'हालैंड हाउस' में ठहरी हुई थीं। स्वामीजी और मि. लेगेट एक अन्य होटल में रहते थे। वैसे हमें प्रतिदिन ही उनकी झलक मिल जाया करती थी। उन दिनों मि. लेगेट का एक सहायक था, जो स्वामीजी को सर्वदा 'मेरे प्रिंस' कहा करता था। स्वामीजी कहते, ''लेकिन मैं कोई राजा-वाजा नहीं हूँ। मैं तो एक हिन्दू संन्यासी हूँ।'' सहायक ने कहा, ''आप अपने को चाहे जो कह लें, परन्तु मुझे तो राजाओं से मिलने-जुलने का अनुभव है और मैं किसी राजा को देखते ही समझ जाता हूँ।'' स्वामीजी का भव्य व्यक्तित्व सभी को प्रभावित करता। तो भी एक बार जब किसी ने उनसे कहा, ''स्वामीजी, आप इतने गौरवशाली हैं।'' इस पर उन्होंने उत्तर दिया, ''मैं नहीं, बल्कि मेरी चाल गौरवशाली है।''

९ सितम्बर को श्री लेगेट तथा मेरी दीदी का विवाह हुआ और अगले दिन स्वामीजी श्रीयुत ई.टी. स्टर्डी का आतिथ्य ग्रहण करने को लन्दन की ओर चल पड़े। श्री स्टर्डी संस्कृत के विद्वान् थे और पहले ही श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों से मिल चुके थे। वहाँ कुछ दिन निवास करने के बाद ही स्वामीजी ने हम लोगों को पत्र लिखा, ''यहाँ आकर मेरी कक्षाओं में भाग लो।'' परन्तु जब तक हम वहाँ पहुँची, वे व्याख्यान देना आरम्भ कर चुके थे। प्रिंसेस हॉल में दिया हुआ उनका व्याख्यान बड़ा ही वाग्मिता-पूर्ण था और अगले दिन के अखबार इस समाचार से परिपूर्ण थे कि एक महान् भारतीय योगी लन्दन आये हुए हैं। वहाँ उन्हें काफी सम्मान मिला। १५ दिसम्बर तक हम लन्दन में रहीं। इसके बाद स्वामीजी अमेरिका में अपना कार्य जारी रखने के लिए फिर वहीं चले आये। अगले साल के अप्रैल में वे फिर लन्दन गये और तब उन्होंने कक्षाएँ लेनी आरम्भ कीं और ठोस सुनिश्चित कार्य शुरू किया। वह १८९६ का साल था। वे जुलाई तक, पूरे गर्मी के मौसम भर वहीं कार्य करते रहे और तब सेवियर-दम्पति के साथ स्विटजरलैंड गये।

स्वामीजी का ज्ञान अगाध था। एक बार जब मेरी भानजी अल्बर्टा स्टर्गीज (बाद में लेडी सैंडविच) उनके साथ रोम में थी और उन्हें वहाँ का परिदर्शन करा रही थी। वह महान् पुरावशेषों की अवस्थिति के विषय में उनका ज्ञान देखकर विस्मित रह गयी थी। वह उनके साथ सेंट पीटर के गिरजे में गयी। वहाँ रोम के गिरजे के प्रति, वहाँ के प्रतीकों के प्रति, रत्न-माणिक्यों के प्रति, साधु-सन्तों के सुन्दर पोशाकों के प्रति स्वामीजी की असीम श्रद्धा देखकर वह और भी अवाक् हो गई। वह बोल उठी, ''स्वामीजी, आप तो सगुण ईश्वर में विश्वास नहीं करते, तो फिर इन सबके प्रति इतनी श्रद्धा क्यों दिखा रहे है?'' वे बोले, ''लेकिन अल्बर्टा, यदि तुम्हें सगुण ईश्वर में विश्वास हो, तो तुम निश्चित रूप से उन्हें अपनी सर्वश्रेष्ठ वस्तु प्रदान करती हो।''

उस साल शीत काल में वे श्री तथा श्रीमती सेवियर और श्रीयुत जे.जे. गुडविन के साथ स्विटजरलैंड से भारत गये, तो पूरा देश उनका अभिनन्दन करने के लिए उनकी प्रतीक्षा कर रहा था। इसके बारे में विस्तृत जानकारी के लिए उनका 'भारतीय व्याख्यान' ग्रन्थ पढ़ा जा सकता है। न्यूयार्क के ५४ वेस्ट, ३३वें स्ट्रीट पर होनेवाले स्वामीजी के व्याख्यानों के लिपिबद्ध करने के लिए आशु-लिपिक के रूप में श्रीयुत गुडविन को नियुक्त किया गया। गुडविन प्रति मिनट दो सौ शब्द लिखनेवाले न्यायालय के आशु-लिपिक थे और उनका पारिश्रमिक बहुत अधिक था, पर हम स्वामीजी का एक शब्द भी खोना नहीं चाहते थे, अत: उन्हें नियुक्त कर लिया गया था। पहले सप्ताह के बाद श्रीयुत गुडविन ने कुछ भी लेने से मना कर दिया। जब उनसे पूछा गया, "आपका क्या तात्पर्य है?" तो उनका उत्तर था, "यदि विवेकानन्द अपना जीवन दे सकते हैं, तो मैं कम-से-कम अपनी सेवाएँ तो दे सकता हूँ।" वे स्वामीजी के साथ-साथ पूरी दुनिया में घूमे और आज श्रीयुत गुडविन के द्वारा लिपिबद्ध स्वामीजी के मुख से निकले सात खण्ड (अब नौ खण्ड) उपलब्ध हैं।

स्वामीजी के भारतवर्ष चले जाने के बाद मैंने उन्हें कोई पत्र नहीं लिखा, बल्कि उन्हीं के पत्र की प्रतीक्षा करती रही। आखिरकार उन्होंने लिखा, "तुम पत्र क्यों नहीं लिखती?" मैंने लिख भेजा, "मैं भारत आऊँ क्या?" उनका उत्तर मिला, "हाँ, यदि तुम गन्दगी, अवनति एवं निर्धनता देखना चाहो और कौपीन पहने लोगों के मुख से धर्मचर्चा सुनना चाहो, तो आ सकती हो। इसके अतिरिक्त और कुछ की आशा हो तो मत आना। अब हम एक और समालोचना सुनने को तैयार नहीं हैं।" जैसा कि स्वाभाविक था, मैंने पहला ही जहाज पकड़ा और श्रीमती ओली बुल तथा स्वामी सारदानन्द के साथ १२ जनवरी को रवाना हो गयी। हम लोग लन्दन तथा रोम में ठहरते हुए १२ फरवरी को बम्बई पहुँचे। वहाँ श्री आलासिंगा उन लोगों की आगवानी के लिए आये हुए थे। उन्होंने अपने मस्तक पर वैष्णव सम्प्रदाय का तिलक लगा रखा था। परवर्ती काल में स्वामीजी के साथ काश्मीर जाते समय जब मैंने टिप्पणी की, "कितने खेद की बात है कि आलासिंगा अपने मस्तक पर वह वैष्णव-चिह्न लगाते हैं।" तत्काल स्वामीजी ने मेरी ओर उन्मुख होकर कहा, "खबरदार, क्या तुमने (इनके लिए) कभी कुछ किया है?" तब मेरी समझ में नहीं आया कि मैंने क्या भूल की है। पर मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। मेरी आँखों में आँसू आ गये और मैं प्रतीक्षा करती रही। बाद में मेरे सुनने में आया कि श्री आलासिंगा पेरुमल एक युवा ब्राह्मण हैं, जो मद्रास के एक कॉलेज में दर्शन-शास्त्र पढ़ाकर मासिक सौ रुपये कमाकर अपने माता-पिता, पत्नी तथा चार बच्चों का पालन करते हैं और स्वामी विवेकानन्द को अमेरिका भेजने के लिए जुटाने के निमित्त उन्होंने द्वार-द्वार पर जाकर भिक्षा माँगी थी। यदि उन्होंने ऐसा नहीं किया होता, तो शायद हम कभी स्वामीजी से मिल नहीं पाते। तब हमारी समझ में आया कि आलासिंगा पर जरा-सी भी टिप्पणी क्यों स्वामीजी को असह्य हो उठती थी।

जब हम बम्बई पहुँचीं, तो वहाँ के लोगों की विशेष इच्छा थी कि हम वहाँ ठहरें, परन्तु हमने कलकत्ते की पहली ही गाड़ी पकड़ी और अगली सुबह के चार बजे वहाँ पहुँच गये। (स्टेशन पर) दर्जन भर शिष्यों के साथ स्वामीजी उपस्थित थे। उनके साथ बैगनी, सुनहरे तथा लाल रंगों की पगड़ी पहने और भी कई विशिष्ट भारतीय थे, जिन्होंने अपने अमेरिका-प्रवास के दौरान श्रीमती ओली बुल का आतिथ्य ग्रहण किया था। उन्होंने हमें मालाओं से ढँक दिया। हम लोग सचमुच ही फूलों से दब गये थे। मालाएँ पहनना मेरे लिए सदा से ही भयदायक रहा है। श्रीमती ओली बुल तथा मैं एक होटल में गयीं और श्री मोहिनी चैटर्जी वहाँ आये तथा अपराह्न में पाँच बजे से रात के दस बजे तक वहीं रहे। मैं कह उठी, "मुझे आशा है कि आपकी पत्नी चिन्तित नहीं होगी!" उन्होंने उत्तर दिया, "घर जाकर मैं माँ को समझा दूँगा।" मुझे उसका तात्पर्य समझ में नहीं आया। बाद में, कोई साल भर बाद, जब मेरा श्री चैटर्जी से अच्छा परिचय हो गया, तब मैंने उनसे पूछा, "पहले दिन आपने जो कहा था कि आप माँ को समझा देंगे, उसका क्या तात्पर्य था?" उन्होंने उत्तर दिया, "पहले अपनी माँ के कमरे में जाकर उन्हें दिन भर की घटनाओं से अवगत कराये बिना रात को मैं कभी अपने कमरे में नहीं जाता।" मैंने कहा, "परन्तु तुम्हारी पत्नी? क्या तुम उसे सब कुछ नहीं बताते?" उन्होंने उत्तर दिया, "मेरी पत्नी? उसे ऐसा ही व्यवहार अपने पुत्र अपने पुत्र से प्राप्त होता है।" तब मुझे भारतीय और हमारे पाश्चात्य सभ्यताओं के बीच के मूलभूत भेद का बोध हुआ। भारतीय सभ्यता मातृत्व पर आधारित है और हमारी सभ्यता पत्नीत्व पर आधारित है – इसके कारण असीम अन्तर आ जाता है।

दो-एक दिनों के भीतर ही हम बेलूड़ के नीलाम्बर मुखर्जी के उद्यान-भवन में स्थित स्वामीजी के अस्थायी मठ में उनसे मिलने गये। अपराह्न में स्वामीजी बोले, "मैं तुम लोगों को वह नया मठ दिखाने ले जाऊँगा, जिसे हम लोग खरीद रहे हैं।" मैं बोली, "परन्तु स्वामीजी, क्या यह पर्याप्त बड़ा नहीं है?" वह सम्भवत: एक या दो एकड़ में फैला, एक छोटे-से तालाब तथा बहुत-से फूलों से युक्त उनका छोटा-सा प्यारा मठ था। मुझे लग रहा था कि वह किसी के लिए भी यथेष्ट बड़ा है। परन्तु स्पष्टत: वे सब कुछ अलग ही पैमाने से देखते थे। अत: वे सँकरी गलियों से होकर उस स्थान पर ले गये, जहाँ वर्तमान मठ स्थित है। श्रीमती ओली बुल तथा

मैंने नदी के किनारे का मकान खाली देखकर कहा, "स्वामीजी, क्या हम लोग इस भवन का उपयोग कर सकती हैं?" वे बोले, "यह अच्छी हालत में नहीं है।" हमने कहा, "परन्तु हम इसे ठीक कर लेंगी।" इस पर उन्होंने अनुमति दे दी।

अत: मकान की नयी चूनाकली करायी गयी, फिर हम बाजार जाकर महोगनी के पुराने फर्नीचर ले आयीं और एक बैठकखाना सजा लिया गया, जिसका आधा पाश्चात्य और आधा भारतीय पद्धति का था। बाहर की ओर हमारा एक भोजन-कक्ष था, एक कमरा हमारा शयनकक्ष हुआ और एक अन्य कमरा निवेदिता के सोने के लिए था। काश्मीर यात्रा के पूर्व तक निवेदिता हमारी अतिथि रहीं। हम उसमें कोई दो महीने रहीं। स्वामीजी के साथ बिताये हुए हमारे काल-खण्डों में सम्भवत: यह सबसे सुन्दर था। वे प्रतिदिन सुबह के समय आकर उस विशाल आम के वृक्ष के नीचे बैठकर चाय पीते। वह वृक्ष अब भी अस्तित्व में है। लोग उसे काटना चाहते थे, परन्तु हमने उसे काटने नहीं दिया। गंगातट के कुटीर में हमारा रहना उन्हें बहुत अच्छा लगा और वे अपने सभी आगन्तुकों को यह दिखाने के लिए वहाँ ले आते कि जिस मकान को उन्होंने रहने के अयोग्य समझा था, उसे हमने कितने मनोरम गृह में परिणत कर दिया है। अपराह्न में हम मकान के सामने चाय की पार्टी दिया करते थे। वहाँ से नदी की पूरी दृश्यावली दीख पड़ती – सर्वदा देखने में आता की मालों से भरी हुई नौकाएँ बहाव की विपरीत दिशा में चली जा रही हैं और हम लोग मानो अपने ही बैठकखाने में अतिथियों का स्वागत कर रहे हैं।

जिन वस्तुओं को लोग अत्यन्त साधारण समझते हैं, उन्हें हमारे द्वारा अन्तरंग रूप से उपयोग में आते देखकर स्वामीजी को बड़ा आनन्द आता। एक रात वहाँ मूसलाधार वर्षा हुई और चारों ओर पानी-ही-पानी हो गया। उस समय वे हमारे भोजनालय के बरामदे में टहलते हुए श्रीकृष्ण, उनके प्रेम और विश्व में उस प्रेम के प्रभाव के विषय में बोलने लगे। उनमें यह एक विचित्र गुण था कि जब वे एक भक्त या प्रेमी होते, तो कर्म तथा राज तथा ज्ञान-योगों को पूरी तौर से छोड़ देते, मानो वे बिल्कुल ही निरर्थक हों। और जब वे कर्मयोगी होते, तब वे उसी को महान् विषय बना लेते। ज्ञान के विषय में भी ऐसा ही होता। कभी-कभी तो वे सप्ताह-पर-सप्ताह एक ही भाव में डूबे रहते और यह बिल्कुल ही भूल जाते कि ठीक इसके पहले उनका क्या भाव था। लगता कि वे चित्त को एकाग्र करने की – हमारे चारों ओर व्याप्त महान् ब्रह्माण्डीय भावों में पैठ जाने की अद्भुत क्षमता से परिपूर्ण हैं। सम्भवत: **उनकी इस एकाग्रता-शक्ति ने ही उन्हें इतना ओजस्वी तथा तरो-ताजा बनाये रखा था।** वे मानो किसी भी चीज को दुहराते नहीं थे। कभी कोई साधारण-सी महत्त्वहीन घटना ही उनके लिए एक नया मार्ग आलोकित कर देती। और हम पाश्चात्यों के लिए उनके हृदय में एक विशेष स्थान था, जिन्हें वे 'जीवन्त वेदान्ती' कहा करते थे। वे कहा करते थे, "तुम लोग जब किसी चीज को सत्य के रूप में विश्वास करते हो, तो उसे कर डालते हो, उसके बारे में सपने नहीं देखते। यही तुम्हारी शक्ति है।"

एक बरसाती रात को स्वामीजी श्रीलंकाई बौद्ध संन्यासी अनागरिक धर्मपाल को हमसे मिलाने लाये। श्रीमती ओली बुल, भगिनी निवेदिता तथा मैं उस कुटीर में बड़े आनन्दपूर्वक निवास करती थीं। और स्वामीजी को अपने मेहमानों को यह दिखाने में विशेष आनन्द आता था कि कैसे पाश्चात्य महिलाएँ उसमें रहकर उसे एक सच्चे घर में परिणत कर सकती हैं।

१२ मई १८९८ को हम काश्मीर की यात्रा पर निकल पड़े। हम उत्तर-प्रदेश-सरकार के ग्रीष्मावास – नैनीताल में ठहरे, जहाँ सैकड़ों भारतवासी स्वामीजी से मिलने आये और उन्हें एक सुन्दर पहाड़ी टट्टू पर बिठाया। इसके बाद उन लोगों ने उनके सामने फल-फूल बिखेर दिये। ईसा-मसीह के जेरुसलेम जाने पर भी ठीक ऐसा ही हुआ था। और मैं तत्काल कह उठी, "तो फिर यह एक प्राच्य परम्परा है!"

तीन दिनों के लिए उन्होंने हमें एकाकी छोड़ दिया। उस दौरान हम उन्हें बिल्कुल भी नहीं देख सकीं। हम एक होटल में निवास कर रही थीं। आखिरकार उन्होंने हमें बुला भेजा। हम उन छोटे छोटे घरों में से एक में प्रविष्ट हुई और वहाँ मैंने उन्हें मुस्कुराते हुए अपने बिस्तर पर बैठे देखा। वे हमें देखकर बहुत ही प्रसन्न थे। हमने उन्हें पूरी स्वाधीनता दी थी। हमने कभी उनसे कोई विशेष आग्रह नहीं किया। उन्होंने भी कभी हमें बोझ नहीं समझा। कभी आदर-सत्कार-भावना की जरूरत का भी बोध नहीं हुआ।

वहाँ से हमने अल्मोड़ा के लिए प्रस्थान किया, जहाँ वे कैप्टेन तथा श्रीमती सेवियर के मेहमान हुए। हमने अपने लिए खुद का एक बँगला लिया और उसमें महीने भर ठहरीं। अल्मोड़ा को स्वामीजी सर्वदा ही अपने पाश्चात्य शिष्यों के लिए हिमालय-आवास मानते थे और वहाँ एक मठ स्थापित करने के इच्छुक थे। श्रीयुत सेवियर ने मठ बनाने के कार्य को बड़ी गम्भीरतापूर्वक स्वीकार किया था, परन्तु वे प्रतिदिन चाय-पार्टी के लिए आनेवाले लोगों की भीड़ से इतने परेशान हो गये कि उन्होंने हिमालय के चालीस मील और भी अन्दर जाने का निश्चय किया। इस प्रकार जब मायावती का आश्रम प्रारम्भ हुआ, तो वह रेल्वे स्टेशन से अस्सी मील दूर था और वहाँ पहुँचने के लिए अच्छी सड़क भी न थी।

हम लोगों के वहाँ के निवास के दौरान ही सूचना आयी कि श्री गुडविन का ऊटकमण्ड में देहान्त हो गया है। जब स्वामीजी को पता चला कि गुडविन का देहान्त हो गया है,

तो वे बड़ी देर तक मौन रहकर हिम-मण्डित हिमालय की ओर ताकते रहे और तदुपरान्त बोले, "मेरे सार्वजनिक वक्तव्यों की इतिश्री हो गयी है।" और इसके बाद उन्होंने यदा-कदा ही सार्वजनिक व्याख्यान दिये।

२० जून को हम अल्मोड़ा से काश्मीर के लिए चले। रावलपिंडी तक हम ट्रेन में गये, जहाँ हमने तीन घोड़ोंवाले ताँगे किये, जो हमें २०० मील ऊपर स्थित काश्मीर में ले जाने जानेवाले थे। हर पाँच मील पर घोड़ों को बदलने की व्यवस्था थी और वह सड़क रोमन लोगों द्वारा बनाये गये किसी भी रास्ते से कम न था। अत: हम तीव्र वेग से उस सुन्दर सड़क से होकर चल पड़े। फिर बारामुला में हमने चार बजरे (हाउसबोट) लिए। डुंगा कही जानेवाली ये नौकाएँ करीब ७० फीट लम्बी और इतनी चौड़ी होती हैं कि उसमें दो लोग अपने अपने बिस्तर लगा लें तथा बीच में आने-जाने के लिए गलियारा भी रह जाता था। ऊपर में चटाई की छत थी और जहाँ भी खिड़की की जरूरत होती, चटाई को मोड़ने से ही काम हो जाता। दिन के समय पूरी छत को ही ऊपर उठाया जा सकता था, अत: खुले में रहकर भी हमें सर्वदा बोध होता रहता कि हमारे सिर पर एक छत भी है। हमने ऐसे चार डोंगे किये थे – एक श्रीमती बुल तथा मेरे लिए, दूसरा श्रीमती पैटर्सन तथा भगिनी निवेदिता के लिए, एक स्वामी विवेकानन्द के लिए और एक उनके अन्य संन्यासियों के लिए। इसके अतिरिक्त एक भोजनालय-नौका भी थी, जिसमें हम सभी अपने आहार के लिए एकत्र होते।

काश्मीर में हम चार महीने रहे, सितम्बर तक के प्रथम तीन महीने हम इन सीधी-सादी छोटी नौकाओं में रहे और उसके बाद जब ठण्ड पड़ने लगी, तो हमने अँगीठियों की व्यवस्था वाला एक साधारण बजरा लिया और एक सचमुच के घर की उष्णता का आनन्द लिया। वहाँ पर हम लोगों की जो बातचीत हुई, उसका काफी कुछ भगिनी निवेदिता ने लिपिबद्ध किया है। स्वामीजी सुबह के करीब साढ़े पाँच बजे उठ जाते और उन्हें मल्लाहों के साथ धुम्रपान तथा बातें करते देख हम भी उठ जातीं। इसके बाद उष्ण सूर्योदय होने के पूर्व तक दो घण्टे तक टहलना होता। टहलते समय वे भारत, इसके जीवन का उद्देश्य, इस्लाम ने क्या किया और क्या नहीं किया आदि विषयों पर बोलते। वे भारत, इसकी स्थापत्य-कला, इसकी जनता के स्वभाव आदि विषयों में डूबकर बोलते रहते और हम लोग अपने सिरों के ऊपर फैले गुलाबी तथा नीले रंगों में खिले 'फारगेट-मी-नाट' पुष्पों से परिपूर्ण मैदान के बीच से होकर चलते रहते।

बारामुला काफी कुछ वेनिस के समान है। नहरों के ही अधिकांश मार्ग हैं। हम लोग अपनी खुद की ही छोटी नौका में मुख्य भूमि से आना-जाना करते थे। परन्तु व्यापारी लोग अपनी छोटी-छोटी नौकाओं में चारों ओर से हमारे बजरे के पास आ जाते। हम अपने बजरे की रेलिंग से ही अधिकांश खरीदारी करते। हमारी प्रत्येक नौका का किराया तीस रुपये मासिक था, इसमें मल्लाहों का खर्च भी शामिल था, जो अपने खाने की व्यवस्था स्वयं करते थे। मल्लाह के काम में पिता, माता, पुत्र, पुत्री तथा छोटे बच्चे भी शामिल रहते। नौका के एक किनारे उनका अपना एक छोटा-सा स्थान था और कई बार उनके भोजन की लोभनीय सुगन्ध से आकृष्ट होकर हम लोग भी चखने के लिए थोड़ा-सा माँग लेते। इन नौकाओं में यात्रा करने की पद्धति इस प्रकार है – बहाव की उल्टी दिशा में नाव को कभी तो बाँस या लग्गी से खेया जाता है, अथवा मल्लाह तट पर चलते हुए उसे खींचकर ले जाते हैं, या फिर उन्हें पतवारों से खेया जाता है। नाव को चाहे जिस पद्धति से भी चलाया जाय, उसके लिए अलग से कोई भुगतान नहीं करना पड़ता। जब हम लोग झेलम नदी के ऊपर स्थित कुछ सरोवरों में जाना चाहते, तो उसके पहले की रात को अपने सेवकों को बता देते और वे लोग खाने-पीने की हर प्रकार की सारी सामग्री एकत्र कर लेते। सुबह जब हमारी नींद खुलती, तो हमें बोध होता कि नौका इतनी धीर-स्थिर गति से चली जा रही है, इतनी सहज गति से कि हमें शायद ही कभी उसके चलने का भान रहता। हमारा सेवक पहले से ही पैदल वहाँ पहुँचकर स्वादिष्ट भोजन के साथ हमारी प्रतीक्षा करता हुआ मिलता। भोजन को वह तीन प्लेटें रखने के लिए उपयुक्त एक लम्बे तथा सँकरे ट्रे में प्रस्तुत करता। इन लोगों की निपुणता इतनी अद्‌भुत थी कि इसे हम कभी विस्मृत नहीं कर सके।

स्वामीजी से मिलने को आनेवाले पण्डित लोग कहते, "परन्तु स्वामीजी, आप इन महिलाओं के साथ क्यों हैं? ये तो म्लेच्छ जाति की हैं! अस्पृश्य हैं!" फिर गोरे लोग भी हमारे पास आते और कहते, "आप लोग क्या देखती नहीं, स्वामीजी आप लोगों को सम्मान नहीं दे रहे हैं? वे बिना पगड़ी पहने आप लोगों से मिलते हैं।" इस प्रकार एक-दूसरे की सभ्यता की सनकों पर हँसते हुए हमें बहुत मजा आता।

इसके बाद स्वामीजी ने हमें लाहौर, दिल्ली, आगरा, कुरुक्षेत्र आदि का परिदर्शन कराने हेतु हमारे साथ यात्रा करने के लिए स्वामी सारदानन्द को बुला भेजा। स्वयं वे सीधे कलकत्ते जा रहे थे। और जब तक हम भी वहाँ पहुँचीं, तब तक वे बेलूड़ की हमारी छोटी कुटिया में मठ की स्थापना कर चुके थे। चूँकि अब हम वहाँ नहीं रह सकती थीं, अत: हमने वहाँ से लगभग दो मील दूर – बाली में एक छोटा-सा मकान लिया और अपने अमेरिका लौटने तक वहीं ठहरीं।

❖ (शेष आगामी अंक में) ❖

अहंकार का तत्त्व

स्वामी मेधानन्द पुरी, कैलास आश्रम, ऋषिकेश

अभिमान से युक्त अन्त:करण-वृत्ति को अहंकार कहते हैं। 'मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ' – यह सोचना भी अहंकार ही है। पैतृक सम्पत्ति से होनेवाले दर्प को भी अहंकार कहते हैं, फिर दूसरों को हेय दृष्टि से देखना भी अहंकार ही है। अन्त:करण में 'मैं'-रूप अहंकार ही सारे पदार्थ-ज्ञान का मूल है। अन्त:करण ही चिदाभास से देह-इन्द्रियों में 'मैं' रूप से व्यवहार करता है। अन्त:करण जड़ होने पर भी सर्वव्यापक आत्मप्रकाश ग्रहण करके शरीर एवं आत्मा के जड़-चेतन धर्म एक-दूसरे पर आरोपित करके 'मैं' और 'मेरा' रूप से व्यवहार करता है। इसलिए विवेक-चूड़ामणि (१०५) में भगवत्पाद आद्य शंकराचार्य ने इस प्रकार अहंकार का निरूपण किया है –

अहंकारः स विज्ञेयः कर्ता-भोक्ताभिमान्ययम्।
सत्त्वादि-गुण-योगेन चावस्था-त्रयमश्नुते ।।

– "अहंकार ही कर्ता-भोक्ता-अभिमानी रूप से भास रहा है। यही सत्वगुण के द्वारा जाग्रत, रजोगुण के द्वारा स्वप्न और तमोगुण के द्वारा सुषुप्त अवस्थाओं को प्राप्त कर रहा है।"

कर्ता इसी देह-अध्यास के कारण, पुण्य-पाप का भोग करते हुए अभिमान-सह भोक्ता रूप में भास रहा है। भगवान शंकराचार्य पाठकों को उपदेश दे रहे हैं – "देह तथा उसके आश्रित अहंकार आदि मोक्ष के प्रतिबन्धक हैं। मांसपिंड-रूपी इस शरीर में अभिमान छोड़कर शवरूपी इस शरीर में कुल-गोत्र-नाम व रूप का अभिमान छोड़कर लिंग शरीर के धर्म कर्तृत्व, भोक्तृत्व को त्याग करके अखण्ड सुखस्वरूप आत्मानुभव करें।" जीव के संसार-सागर में परिभ्रमण करने के सारे प्रतिबन्धों का मूल कारण यह अहंकार ही है। जब तक अहंकार से सम्बन्ध है, तब तक मुक्ति की आशा व्यर्थ है। **ब्रह्मानन्द-रूपी स्वर्ण-कलश को अभिमान-रूपी सर्प लपेटे हुए है**। उसके तीन क्रूर सिर हैं, जो त्रिगुण कहलाते हैं। वेदान्त रूपी खड्ग से उन सिरों का छेदन करके अहंकार-रूपी सर्प का निर्मूलन करके ब्रह्मानन्द-रूपी महानिधि सदृश घड़े को प्राप्त करना होगा। भक्षक के गले में काँटे-रूपी इस अहंकार का ब्रह्मात्मैक्य-विज्ञान-रूपी खड्ग से छेदन करके आनन्द की अनुभूति करें। अहंकार के नष्ट हो जाने के बाद भी मात्र क्षण भर के संकल्प से पुन: विक्षेप-परम्परा शुरू हो जाती है। इसीलिए श्रीरामकृष्ण ने अपनी उपदेश-कथाओं में कहा है – "यह अहं ही सारे कष्टों का कारण है। यह तुच्छ अहं कभी भी मनुष्य को नहीं छोड़ता है। आपने खण्डहरों से पीपल का वृक्ष पनपते हुए देखा होगा। आज उसको काट दीजिए, कल पुन: नवीन अंकुर देखा जा सकता है। ऐसा ही अहंकार के विषय में भी है। पिसा हुआ लहसुन रखे पात्र को अनेकों बार धोने पर भी उसकी गन्ध पूर्णत: नहीं जाती।"

बैल 'हम्बा-हम्बा' ('मैं'-'मैं') करता है। इसीलिए उसकी इतनी दुरवस्था होती है। धूप हो या वर्षा, किसान सारे दिन उसे हल में जोतता है। ऊपर से कसाईखाने में उसे काटा जाता है। तब भी उसकी मुक्ति नहीं है। चमार उसके मांस से चमड़े को निकालकर चप्पल-जूते बनाता है। अन्त में जुलाहा उसकी अँतड़ियों से ताँत (रूई धुनने का यंत्र) बनाता है। जब जुलाहे द्वारा रूई साफ करते समय उस अँतड़ी में से 'तुहू-तुहू' ('तुम-तुम') ध्वनि निकलती है, तभी उसकी मुक्ति होती है। जब कहता है, 'हे भगवान! मैं कुछ नहीं हूँ, आप ही मेरे स्वामी हैं', तभी जीव की मुक्ति है। इस अहंकार के बारे में गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं – "असुर सभी दोषों के मूल – अहंकार का आश्रय लेकर मुझ साक्षीरूप से द्वेष करते हैं।"

अहंकार के सम्बन्ध में पंचतंत्र (मित्रभेद, ३४३) में समुद्र के किनारे अंडे रखनेवाली टिट्टिभी के विषय में लिखा है –

उत्क्षिप्य टिट्टिभः पादावास्ते भङ्गभयाद्दिवः।
स्वचित्त-कल्पितो गर्वः कस्य नात्रापिविद्यते ।।

यदि आकाश गिरेगा तो मैं उसे अपने पैरों पर थाम लूँगी – ऐसा सोचकर टिट्टिभी पक्षी अपने पैर ऊपर आकाश की ओर उठाकर सोती है। वैसे ही इस संसार में किसके चित्त में स्वकल्पित अहंकार नहीं है? सर्वमान्य रूप से सबके भीतर अहंकार होता ही है। जली हुई रस्सी के समान ज्ञानियों में बाधित अहंकार, सन्तों में मर्यादित अहंकार एवं असुरों में नग्न अहंकार रहता है। इसीलिए अल्प ज्ञान से अभिमानी हुए व्यक्ति को ब्रह्माजी भी प्रसन्न नहीं कर सकते।

एक बार व्यापारार्थ जा रहा एक व्यापारी एक गाँव के बाहर अपनी बैलगाड़ी रोककर भोजन बनाकर खा रहा था। तभी कहीं से एक कुत्ता आ गया। व्यापारी ने उसे भी एक रोटी दे दी। चलते समय वह कुत्ता धूप से बचने के लिए उसके साथ बैलगाड़ी के नीचे छाँव में चलने लगा। कुत्ते ने सोचा कि यह बैलगाड़ी मैं ही खींच रहा हूँ। इसी प्रकार जीव स्वकर्मों से अर्जित, परमात्मा द्वारा प्रदत्त वस्तुओं को अपना मानकर आत्मा में कर्तृत्व आरोपित करके अहंकारपूर्वक व्यवहार करता है। इसलिए इस कर्तृत्व-अभिमान को छोड़ने के लिए योग-वाशिष्ठ में कहा गया है –

प्रवाह-पतितं कार्यं कुर्वन्नपि न लिप्यते।
बाह्ये सर्वत्र कर्तृत्वं आवहन्नपि राघव ।।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

भगवद्-गीता : एक परिपूर्ण जीवन-दर्शन

स्वामी सत्यरूपानन्द

मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है। वह जो कुछ देखता है, सुनता है, अनुभव करता है उसे ठीक ठीक समझना चाहता है। कोई भी बात जो उससे छिपी है, उसे वह जानना चाहता है। वह सभी रहस्यों का उद्‌घाटन करना चाहता है। दूसरे शब्दों में जो सत्य है, जैसा है, उसे पूर्णत: उसी रूप में जानना चाहता है।

सत्य को जानने की इच्छा ने मनुष्य को जिज्ञासु बना दिया। जिज्ञासा मनुष्य की मूल प्रवृत्ति बन गई है। मनुष्य की इस जिज्ञासा वृत्ति ने उसके सामने जीवन के कुछ मौलिक प्रश्नों को अनादि काल से लाकर खड़ा कर रखा है। सभी देशों और सभी कालों में विचारशील मनुष्यों ने इन प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ने के प्रयत्न किए हैं।

मानव जाति का अनुभव यह बताता है कि मनुष्य केवल रोटी, कपड़ा, मकान तथा भौतिक सुख भोग की कुछ और सामग्रियों और सुविधाओं से ही पूर्णत: सन्तुष्ट नहीं हो सकता। इन आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने पर भी उसकी मानसिक भूख नहीं मिट पाती। वह कुछ और अधिक श्रेष्ठ तथा स्थायी वस्तु चाहता है। यह श्रेष्ठ और स्थायी वस्तु उसे भौतक साधनों से प्राप्त नहीं हो सकती। यह मनुष्य के आत्मा की भूख है। इस आत्मिक भूखों की निवृत्ति केवल आध्यात्मिक ज्ञान तथा अनुभूति के द्वारा ही सम्भव है। संसार के सभी धर्म इस ज्ञान का परिवेशन करते हैं। हिन्दू धर्म ने मनुष्य की इस भूख को मिटाने के लिए विभिन्न प्रकार प्रस्तुत किए हैं। इन प्रकारों को योग के नाम से पुकारा जाता है।

जीवन की समान्य जरूरतों की पूर्ति के बाद हर विचारशील मनुष्य के मन में यह प्रश्न उठता है कि मनुष्य जीवन का प्रयोजन क्या है? वह कहाँ से आया है तथा उसे कहाँ जाना है? जीवन की इस यात्रा में उसका क्या योगदान है? इन प्रश्नों के पूर्ण समाधान के बिना उसे स्थायी शान्ति नहीं मिल सकती। वेदान्त कहता है, स्वयं को जाने बिना मनुष्य को इन प्रश्नों का उत्तर नहीं मिल सकता – **आत्मानं विद्धि।**

जीवन के प्रयोजन के सम्बन्ध में विचार आने पर दूसरा एक और प्रश्न सामने आता है कि जीवन के प्रयोजन को प्राप्त करने का उपाय क्या है? कैसे उस प्रयोजन को प्राप्त किया जाय? जीवन के प्रयोजन को प्राप्त करने के उपायों पर विचार करने पर एक और महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि हमारे जीवन व्यापार और व्यवहार में क्या उचित और क्या अनुचित है? इस प्रश्न के उत्तर पर ही भौतिकता और अनैतिकता का निर्णय होता है। नैतिक तथा अनैतिक जीवन का निर्धारण होता है।

ये सभी प्रश्न तथा उनके उत्तर हमारे दैनन्दिन जीवन को गहराई से प्रभावित करते हैं। इन प्रश्नों के उत्तर के अनुसार ही हमारा जागतिक व्यवहार संचालित होता है। इनके उत्तर तथा उनकी मीमांसा हमारे जीवन-दर्शन का निर्माण करते हैं। और हम सभी यह जानते हैं कि हमारे जीवनादर्श पर ही हमारे जीवन की सफलता या असफलता निर्भर करती है।

भगवद्‌गीता में इन सभी प्रश्नों के सम्यक् समाधान प्रस्तुत किए गए हैं। **कृष्ण-अर्जुन-संवाद के रूप में भगवद्‌गीता ने एक सर्वांगपूर्ण जीवन दर्शन हमारे सामने रखा है।** गीता का जीवन दर्शन सम्पूर्ण मानव समाज के लिए है। गीता का जीवन दर्शन देश-काल की सीमा में बँधा हुआ नहीं है। संसार का प्रत्येक व्यक्ति जो जीवन में परम सुख और शान्ति चाहता है, वह गीता के जीवन दर्शन का अनुसरण कर उसे प्राप्त कर सकता है।

गीता किसी धर्म या सम्प्रदाय-विशेष के लोगों के लिए नहीं कही गई है। इसके उपदेश, इसकी शिक्षा

पिछले पृष्ठ का शेषांश

– अर्थात् "बाहर से प्रवाहरूपी सभी कार्यों का निर्वाह करते हुए भी ज्ञानी निरहंकारी होकर कर्मों में लिप्त नहीं होता।"

अष्टावक्र संहिता (१/८) में अहंकार से बचने का उपदेश इस प्रकार वर्णित है –

अहं कर्तेति अहं मान महाकृष्णाहि दंशित:।
नाहं कर्तेति विश्वास अमृतं पीत्वा सुखी भव ।।

– "अहंकार-रूपी काले नाग से काटे हुए तुम 'मैं कर्ता नहीं हूँ' ऐसा कहते हो। **'मैं कर्ता नहीं हूँ' – इस विश्वास-रूपी अमृत को पीकर ब्रह्मानन्द में मग्न हो जाओ।**

तैलंग देश के महाकवि 'योगी वेमन्ना' द्वारा कथित अहंकार विषयक श्लोक का भाव है – मुनियों को भी जब तक देहाभिमान रहेगा, तब तक वे मोहादि को त्याग नहीं कर सकते। साहसपूर्वक उस अभिमान को छोड़ने पर, वे सोऽहं का अनुभव करते हैं। **सोऽहं अर्थात् 'मैं वही हूँ' – इस प्रकार परिच्छिन्न अहंकार का त्याग करनेवाला ब्रह्म हो जाता है।** इसीलिए उपनिषदों में **'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'** और **'ब्रह्मविद् आप्नोति परम्'** कहा है। ❑❑❑

सार्वभौमिक एवं सार्वलौकिक है। संसार की सभी जातियाँ और सभी देश के लोग इसका आचरण कर अपना जीवन धन्य कर सकते हैं। गीता में मनुष्य की सभी प्रकार की आध्यात्मिक आकांक्षाओं की पूर्ति का उपाय बताया गया है।

ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र – गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में जो पुष्पिका है, उसी में स्पष्ट कह दिया गया है कि गीता ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र है। ब्रह्मविद्या जीव और जगत के परम सत्य तथा चरम सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती है। इसमें परम सत्य के स्वभाव, स्वरूप, लक्षणों आदि पर विचार किया गया है। तथा जीवन के शाश्वत लक्ष्य का असंदिग्ध निरुपण किया गया है। ईश्वर, आत्मा, जन्म, मृत्यु, पुनर्जन्म, कर्मवाद आदि दर्शन के मौलिक तत्त्वों का असंदिग्ध निरुपण किया गया है। यही ब्रह्मविद्या है।

योगशास्त्र – जीव जगत के शाश्वत सिद्धान्तों का जीवन में आचरण कैसे किया जाय? सिद्धान्तों की प्रत्यक्ष अनुभूति का उपाय क्या है? उन सिद्धान्तों को दैनिक जीवन में कैसे आचरण में लाया जाय? आदि व्यावहारिक उपाय जिसमें बताए जाते हैं, उसे योगशास्त्र कहा जाता है। गीता में ब्रह्म विद्या के शाश्वत सिद्धान्तों को जीवन में आचरण में लाने का व्यावहारिक उपाय बताया गया है। अत: यह योगशास्त्र है।

किसी भी परिस्थिति में – अपने उद्धार की, अपने परम कल्याण की तीव्र अभिलाषा जागने पर मनुष्य जीवन में किसी भी अवस्था में, किसी भी परिस्थिति में, कितनी भी कठिनाइयों में अपने जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति का प्रयत्न प्रारम्भ कर सकता है। उतना ही नहीं उसमें सफल भी हो सकता है। गीता रणभूमि में युद्ध के ठीक पूर्व कही गई थी, जहाँ लोग एक दूसरे के प्राण लेने को प्रस्तुत हैं। इससे और अधिक कठिन परिस्थिति क्या आ सकती है? उन कठिन क्षणों में भगवान ने गीता का उपदेश दिया और अर्जुन ने उस उपदेश को ग्रहण कर तत्काल उसका पालन किया। इस प्रकार रणभूमि अर्जुन के लिए आध्यात्मिक साधना की पूण्य भूमि हो गई तथा उसके जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक सिद्ध हुई। अत: जीवन की प्रत्येक परिस्थिति गीता के उपदेश को ग्रहण करने और जीवन में उसका आचरण करने के लिए उपयुक्त है।

विषाद भी योग ! – मनुष्य का जीवन सदैव एक सीधी रेखा में नहीं चलता। उसमें उतार-चढ़ाव, सुख-दु:ख, आशा-निराशा आते रहते हैं। ये द्वन्द्व मनुष्य को सदैव पीड़ित करते रहते हैं। संसार से भागकर इनसे बचा नहीं जा सकता। इनके बचने का एकमात्र उपाय है इनका सामना करना तथा इन सब द्वन्द्वों से ऊपर उठ जाना। गीता हमें इन द्वन्द्वों से युद्ध करते हुए इनसे ऊपर उठने का उपाय बताती है।

अर्जुन इन द्वन्द्वों से पीड़ित होकर शोकग्रस्त हो गए थे। उनका यह शोक विषाद में परिणत हो गया था तथा वे अकर्मण्य हो गए थे।

विषाद क़ा मनोविज्ञान – विषाद के मनोविज्ञान पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेना उचित होगा। जीवन में मनुष्य की सभी इच्छाएँ पूर्ण नहीं हो पातीं। इच्छाओं के पूर्ण न होने पर दो प्रतिक्रियाएँ होती हैं – (१) यदि व्यक्ति इच्छापूर्ति में समर्थ है तथा उसके पास साधन भी हैं, किन्तु किसी दूसरे के कारण यदि उसकी इच्छा पूर्ति नहीं होती तो उसे क्रोध आता है तथा क्रुद्ध होकर वह प्रतिक्रिया करता है। (२) किन्तु जब इच्छा पूर्ति में व्यक्ति स्वयं को असमर्थ या अपर्याप्त पाता है। उसे अपनी सफलता पर संदेह हो जाता है। वह देखता है कि उसकी इच्छा पूर्ति की मार्ग में आने वाली बाधाओं को वह दूर नहीं कर सकता। तब उसे क्रोध न आकर दु:ख होता है। दु:ख के साथ मन में निराशा के भाव आते हैं। निराशा अकर्मण्यता को जन्म देती है और व्यक्ति विषादग्रस्त होकर टूट जाता है। इस विषादग्रस्त जीवन से मृत्यु ही उसे अच्छी लगने लगती है। सही समय पर सहायता और मार्गदर्शन न मिले तो विषादग्रस्त व्यक्ति आत्महत्या तक कर लेता है।

अर्जुन इसी प्रकार के विषाद से पीड़ित हो गये थे। यह अर्जुन का सौभाग्य था कि उन्हें साक्षात् नारायण ही मार्गदर्शक और सहायक के रूप में मिले और इसलिए अर्जुन विषाद के घोर समुद्र से उबर कर जीवन संग्राम में विजयी हुए।

अर्जुन को निमित्त बनाकर भगवान ने मानव मात्र को विषाद-समुद्र से उबारकर जीवन-संग्राम में विजयी होने का, कृतकृत्य होने का राजमार्ग बता दिया है।

विषाद का मूल मोह या अज्ञान – विषाद का मनोविज्ञान तो हमने देखा किन्तु उसकी जड़ें बहुत गहरी हैं। अर्जुन के व्यवहार का विश्लेषण करने पर हमें उसका कारण स्पष्ट दिख पड़ता है। युद्ध भूमि में आते तक अर्जुन के मन में कोई दु:ख नहीं था। कोई निराशा नहीं थी। उल्टे उनके मन में युद्ध करने का उत्साह था। वे भगवान से कहते हैं –

यावत् एतान् निरीक्षे अहं योद्धुकामान् अवस्थितान् ।
कैः मया सह योद्धव्यम् अस्मिन रणसमुद्यमे ।। २२/१

– जब तक मैं रणभूमि में डटे युद्ध की इच्छा वाले इन लोगों को देख लूँ तथा देखूँ कि मुझे किनके साथ युद्ध करना है।

योत्स्यमानान् अवेक्षेऽहं ये एते अत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेः युद्धे प्रियचिकीर्षवः ।।

– दुर्बुद्धि दुर्योधन का युद्ध में हित चाहनेवाले तथा युद्ध के इच्छुक ये ज़ो राजा लोग यहाँ जमा हुए हैं, उनको देखूँ तो।

दोनों सेनाओं के बीच में रथ को खड़ाकर भगवान ने अर्जुन से कहा – हे पार्थ! देख ले कौन-कौन लोग यहाँ खड़े

हैं तथा तुझे किन-किन लोगों से युद्ध करना है। अर्जुन ने दोनों सेनाओं को देखा। उसे उन सेनाओं में कौन दिखे? अर्जुन को वहाँ शत्रु नहीं दिखे, दुष्ट, आततायी नहीं दिखे, धर्म के विरुद्ध कार्य करनेवाले अधार्मिक लोग नहीं दिखे। अर्जुन को वहाँ 'स्वजन' दिखे, भाई दिखे – **दृष्ट्वा इमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।**

यथार्थ तो यह था कि वहाँ दुष्ट, दुराचारी स्वार्थी आततायी राजागण, अन्यायपूर्वक राज्य और धन को हड़प लेनेवाले दुष्ट लोग, अधर्मी लम्पट भोगवादी लोग खड़े थे। ये सभी लोग सत्य और धर्म को त्यागकर अधर्म, असत्य, अन्याय, दुराचार आदि का आश्रय लेकर अपनी स्वार्थपूर्ति में लगे थे। युद्ध भमि में आने के पूर्व अर्जुन भी उन्हें उसी दृष्टि से देखा करते थे। किन्तु रणभूमि में प्रत्यक्ष सामने देखने पर अर्जुन के मन में स्वजन सम्बन्धियों का मोह जाग उठा। वह मोह इतना प्रबल हो गया कि अर्जुन का सारा विवेक, सारा ज्ञान ढक गया और वे तत्काल कर्तव्यच्युत हो गए। उनके मन में अनुचित और अविवेकपूर्ण करुणा जागी। वे मोहग्रस्त हो कर विषाद में डूब गए।

आइये, अब एक दृष्टि भगवान कृष्ण पर भी डालें। रणभूमि में खड़ी उन दोनों सेनाओं में भगवान के स्वजन सम्बन्धी भी तो खड़े थे। स्वयं पाण्डव उनके सगे फुफेरे भाई थे। अभिमन्यु भांजा था। जो पाण्डवों के सम्बन्धी थे वे भगवान के भी सम्बन्धी थे।

किन्तु भगवान के मन में इन लोगों को देखकर मोह नहीं जागा। भगवान साक्षात् ज्ञानस्वरूप हैं, अत: मोह उनका स्पर्श नहीं कर सकता। भगवान ने यथार्थ को देखा। उन्हें सत्य और असत्य दिखा। न्यायप्रिय और अन्यायी दिखे, साधु और असाधु दिखे, धर्म और अधर्म दिखा, इसालिए उन्होंने सत्य का, न्याय का, साधुता का, धर्म का पक्ष ग्रहण किया।

गीता के जीवन दर्शन की पहली शिक्षा यह है कि मोह को त्यागकर सत्य का, धर्म का पक्ष ग्रहण करो। जीवन की सार्थकता के लिए सत्य और धर्म का अवलंबन स्वीकार करो। जीवन को सार्थक करने का, जीवन में कृतकृत्य होने का सत्य और धर्म से भिन्न और कोई मार्ग नहीं है।

जीवन का सबसे बड़ा सत्य – जीवन की सार्थकता और परिपूर्णता के लिए सत्य का सम्यक् ज्ञान व अनुभूति आवश्यक है। सत्यानुभूति के बिना जीवन कभी भी परिपूर्ण और सार्थक नहीं हो सकता। अत: जीवन की सफलता के लिए सत्य की खोज पहली सीढ़ी है। सत्य की खोज कहाँ से प्रारम्भ करें? **सत्य की खोज सत्य को खोजनेवाले से ही प्रारम्भ करना पड़ता है ।** सत्य की खोज करनेवाला मैं स्वयं कौन हूँ? यहीं सत्य की खोज प्रारम्भ करता है। वस्तुत: गीता का उपदेश भी यहीं से प्रारम्भ होता है। ❖ (क्रमश:) ❖

सद्गुण-सौरभ

डॉ. त्रिलोकी सिंह

सदा सद्गुणों के सौरभ से,
जीवन को महकाना सीखो ।
सत्य, अहिंसा, दया, प्रेम का,
मन में भाव जगाना सीखो ।।

ऊँच-नीच के भाव हमारे,
कलुषित कर देते हैं मन को ।
नफरत और घृणा मिलकर
निन्दित कर देते हैं जीवन को ।।
इसीलिए दुर्भाव त्यागकर,
सबको गले लगाना सीखो ।। सत्य.

अपनी स्वार्थपूर्ति के खातिर
कभी किसी का अहित न करना ।
दीन-हीन की कर सहायता,
उनके सारे संकट हरना ।।
भूख-प्यास से व्याकुल है जो,
उनकी क्षुधा मिटाना सीखो ।। सत्य.

स्वाभिमान का भाव जगाकर
मूल काट दो अहंकार का ।
अधिक नहीं तो सिर्फ एक ही
पौधा रोपो सद्विचार का ।।
घास-फूस से हैं विकार जो
मन में, उन्हें जलाना सीखो ।। सत्य.

कभी किसी को आश्रय देकर
उसको ठगना ठीक नहीं है ।
कभी किसी के सुखमय पथ पर,
काँटे रखना ठीक नहीं है ।।
करो प्रेम से सबसे बातें
नफरत दूर भगाना सीखो ।। सत्य.

गलत राह का वरण न करना,
सत्पथ पर बढ़ते ही जाना ।
मत उदास होना दुख में भी,
सुमन-सदृश खिलना-मुस्काना ।।
सदा तुम्हें भी याद करें सब,
ऐसी प्रीति निभाना सीखो ।
सत्य, अहिंसा, दया, प्रेम का,
मन में भाव जगाना सीखो ।।

श्रीरामकृष्ण देव का सर्वधर्म-समभाव

कनक तिवारी

अठारहवीं सदी की शुरुआत से उन्नीसवीं सदी के मध्य तक भारत राजनीतिक, आर्थिक और बौद्धिक दृष्टि से भी पूरी तौर पर एक पराजित देश बनता गया। देश में आर्थिक खुशहाली नहीं थी। शिक्षा में बदहाली थी और अंग्रेजियत ने भारत की काठी पर सवार होकर उसकी मुश्कें कस ली थीं और मुश्किलें बढ़ा दी थीं। कुल मिलाकर देश बदहवास हो रहा था। जब रात के आसमान में गहरा अँधेरा छा जाता है, तभी बिजली भी कौंधती है। वह रोशनी देती है और वैचारिक आन्दोलन की घनघोर बारिश होने की सूचना भी देती है। भारत में यही हुआ। अंग्रेजी हुकूमत के बहाने पश्चिमी जीवन-पद्धति का हमला हुआ। उन्नीसवीं सदी का मध्य आते-आते आत्मविश्वास के कुछ भारतीय पुरोधा विचार के आकाश में नक्षत्रों की भाँति टँग गये। अपना कालजयी यश लिये वे समकालीन इतिहास के प्रेरक बन गये। श्रीरामकृष्णदेव उनमें से एक, लेकिन सबसे पहले हैं। उनका व्यक्तित्व सबसे अनोखा है। मोटे तौर पर वे सांसारिक दुनिया के नहीं हैं, पर जीवन और जगत् को उन्होंने एक नयी दृष्टि से पुष्ट करने की कोशिश की है। उनके योग्यतम शिष्य स्वामी विवेकानन्द सहित रामकृष्ण मठ और मिशन के असंख्य संन्यासियों ने मनुष्य की सेवा करने का अभियान निरन्तर जारी रखा है।

इसमें कोई शक नहीं कि श्रीरामकृष्ण मूलत: एक धार्मिक व्यक्ति और ईश्वरभक्त थे। १८ फरवरी, १८३६ को कामारपुकुर गाँव के एक गरीब ब्राह्मण परिवार में गदाधर चट्टोपाध्याय का जन्म हुआ था। प्रकृति में कुछ अप्रत्यक्ष रहस्य ढूँढ़ने की उनमें बचपन से ही ललक रही है। धरती से लेकर आसमान तक कुदरत जितने रंगों की छटा उन्हें दिखाती थी, उसे देखकर वे एक तरह की समाधि में डूब जाते। उनमें गहरा कलाबोध भी था। कुम्हार को बर्तन बनाता देख वे जिद करते कि वह भी उन्हें सीखना है। संगीत, कविता और चित्रकारी में भी उनकी गहरी रुचि धीरे-धीरे उन्हें वह कलाकार बनाती गयी, जो अन्तत: पूरी मानवता के काम आया। धार्मिक परिवार से होने के कारण शिव, राम और कृष्ण की कथाएँ, पुराणों के प्रसंग और संस्कृत के श्लोक उन्हें रटाये जाते, लेकिन श्रीरामकृष्ण पाठशाला में ज्यादा दिन पढ़ नहीं सके। वे केवल रोटी कमाने वाली शिक्षा के गुलाम बनकर नहीं रह सकते थे। अपने बड़े भाई रामकुमार के पास उन्हें कलकत्ता भेजा गया, ताकि वे एक अच्छे संस्कृत-शिक्षक बन सकें। संस्कृत शिक्षक तो वे नहीं बन सके, लेकिन समकालीन भारत के सबसे बड़े संस्कृति-शिक्षक बनकर श्रीरामकृष्णदेव इतिहास में अपनी श्रेष्ठ जगह ढूँढ़ ही लेते हैं।

धर्म श्रीरामकृष्ण के अस्तित्व का घर है। धर्म के बिना उनकी परिभाषा करना भी सम्भव नहीं है। उनका धर्म लेकिन औपचारिक, रस्मी या तिलिस्मी नहीं है। ईश्वर में उनकी अटूट भक्ति है। वे शुरुआती दौर में समाज या जीवन के कीचड़ में कमल की तरह रहकर ईश्वर-भक्ति के आराधक बने रहे। दक्षिणेश्वर के प्रसिद्ध काली-मन्दिर में उन्हें पुजारी नियुक्त कर दिया गया। यह श्रीरामकृष्ण की यात्रा का पहला पड़ाव था। उनमें एक गहरी व्यग्रता, करुणा और जिज्ञासा आग की तरह सुलग रही थी, जिस पर प्रारम्भ में सांसारिकता की राख की परत दिखाई पड़ती है। जो सर्वशक्तिमान और अपरिभाषेय हैं, उनसे परस्पर लीन हो जाना श्रीरामकृष्ण के जीवन का मिशन बनता गया। वह ईश्वर किस काम का जो मनुष्य में समा नहीं जाये और धर्मरहित मनुष्य होना भी किस काम का? यह गुत्थी सुलझाने की निजी परेशानी श्रीरामकृष्ण की थी, लेकिन वह एक ऐतिहासिक अनिवार्यता बन गयी।

उनके जीवन में इसी दौर में संयोग से कुछ साधु-सन्तों तथा तांत्रिक साधकों का आगमन हुआ और उन्होंने वह सब कुछ हासिल कर लिया जो असम्भव तो है, लेकिन उन्होंने सम्भव किया। एक तांत्रिक साधिका भैरवी ने तंत्र-साधना के द्वारा उन्हें ईश्वर के दर्शन कराये। एक और साधु – जटाधारी ने रामलला की धातु की मूर्ति की पूजा के जरिये उनमें शिशु राम के लिए पितृत्व-भाव पैदा किया और उन्हें लगा कि वे राममय हो गये हैं। राधाकृष्ण के प्रेमप्रसंग के चश्मदीद गवाह बनने की जिद लिये श्रीरामकृष्ण गोपियों का वस्त्र धारण किये ऐसी ही साधना में लीन होकर उस मधुर भाव को हृदयगम कर सके, जिससे राधा ने उन्हें दर्शन दिये और उसके बाद कृष्ण ने भी। उन्हें लगा कृष्ण के चरण कमल से रश्मि-रेखाएँ निकलकर भागवत तक और वहाँ से उनके हृदय तक लगातर चली आ रही हैं। भगवान, धर्मग्रन्थ और भक्त के एक हो जाने का यह प्रसंग उन्हें धर्मों के इतिहास में सबसे ज्यादा प्रासंगिक बनाता है, क्योंकि इसके बाद ही श्रीरामकृष्ण देव एक हिन्दू विचारक से ऊपर उठकर एक ऐसी दुनिया में कदम रखते हैं, जिसका समानान्तर भारत तो क्या विश्व के इतिहास में भी अब तक उपलब्ध नहीं हैं।

यह श्रीरामकृष्ण ही थे, जिन्होंने एक कट्टर धार्मिक व्यक्ति और साधु होने के प्रयत्न में विश्व के कुछ अन्य धर्मों – इस्लाम और ईसाईयत आदि में भी अपना आत्म-साक्षात्कार करना चाहा। १८६६ के अन्त में श्रीरामकृष्णदेव ने एक धार्मिक मुसलमान को तन्मय होकर साधना करते देखा। उन्होंने एक विद्यार्थी की तरह उनसे इस्लाम की शिक्षाओं में

दीक्षित करने का आग्रह किया। जिस काली-मन्दिर में वे पुजारी थे, ठीक उसके बाहर मुसलमानों की तरह कपड़े पहनकर उन्हीं की तरह रहते, नमाज पढ़ते और खाना खाते। वे तात्विक रूप से एक पारम्परिक मुसलमान दिखने लगे। यह आश्चर्यजनक लेकिन सत्य है कि इन दिनों में उनके अस्तित्व से हिन्दुत्व का कोई सरोकार नहीं रह गया था। वे एक मुसलमान फकीर हो गये थे, जिसे अल्लाह के नाम के अलावा कोई आकांक्षा नहीं थी। उन्हें एक दिव्य आभा दिखी, वही जो इस्लाम के अनुसार आकारहीन ईश्वर है और वह श्रीरामकृष्णदेव में समाहित हो गयी। कोई आठ बरस बाद १८७४ में उन्होंने इसी तरह ईसाइयत का पाठ भी पढ़ा। उन्हें लगा शिशु ईसा मसीह की माता उन्हें अपनी गोद में लिए एक चित्र से निकलकर चली आ रही हैं। वे चित्र जीवन्त हो उठे और रोशनी की किरणें बिखेरते श्रीरामकृष्ण के हृदय में समा गये। श्रीरामकृष्णदेव को यह बोध हुआ कि अब वे मनुष्य हो गये हैं और किसी एक धर्म से बँधकर रहना उनके लिए इस तरह सम्भव है कि सभी धर्म वही रास्ता तो बताते हैं।

श्रीरामकृष्णदेव के समकालीन महत्वपूर्ण भारतीय या तो ईसाई होते चले गये थे, या ईसाइयत के प्रभाव में थे। कुछ और थे, जो प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को आधुनिक बनाकर हिन्दू धर्म के जीर्णोद्धार में लगे थे। इनमें से प्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदन दत्त, अशेष साहित्यकार बंकिमचन्द्र चटर्जी, विख्यात समाज-सुधारक ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि ब्राह्मसमाज के नेता देवेन्द्रनाथ टैगोर और उन सबसे बढ़कर केशवचन्द्र सेन श्रीरामकृष्णदेव से मिलते रहे हैं। एक तरफ अंग्रेजी शिक्षा से लैस धनाढ्य परिवारों के भद्र बंगजन और दूसरी ओर लगभग अशिक्षित और गरीब परिवार से आया एक सामान्य-सा दिखता पुजारी। अनेक बुद्धिजीवियों ने जब श्रीरामकृष्णदेव के अमर वाक्य सुने, तब उनमें अपनी धर्मबुद्धि को परिष्कार करने की जरूरत महसूस हुई। धार्मिक असहिष्णुता पर चोट करते हुए श्रीरामकृष्णदेव कितनी सहज बात कहते हैं कि काँटा गड़ जाने पर हम उसे काँटे से ही निकालते हैं, लेकिन बाद में हम दोनों काँटें फेंक देते हैं। उनका मत है कि तर्कशास्त्र से धर्मों को नहीं समझा जा सकता। उनके अनुसार सभी धर्म एक ही बात तो कहते हैं। वे लड़ते जरूर हैं, लेकिन यह भी नहीं कहते कि जो कृष्ण है वह शिव नहीं है या वही ईसा या अल्लाह नहीं है। हिन्दू कुएँ से पानी भरता है और उसे जल कहता है, मुसलमान बोतलों में पानी भरता है और ईसाई उसे वाटर कहता है। लेकिन एक ही पदार्थ जिसका चारित्रिक गुण वही है, यदि अलग-अलग नामों से पुकारा जाय, तो उस पदार्थ का क्या दोष! श्रीरामकृष्ण देव यह कभी नहीं कहते कि एक धर्म के अनुयायी को दूसरे धर्म के रास्ते पर चलना जरूरी है। वे जानते हैं कि सभी रास्ते अन्ततः वहीं तो पहुँचते हैं। प्रतापचन्द्र मजूमदार बड़ी सटीक बात कहते हैं कि श्रीरामकृष्णदेव का धर्म आनन्द है, उनका पूजा-पाठ आत्मा की यात्रा है, उनका पूरा व्यक्तित्व एक जलती हुई आग की तरह है और उनका उन्माद विश्वास और भावना की गर्मी है।

श्रीरामकृष्ण देव का विश्व-विचार को एक अद्‌भुत योगदान है, जिसे एक अल्प साक्षर साधु से उम्मीद कर लेना सम्भव नहीं है। विश्व की मौलिक सभ्यताएँ हमें सिखाती आयी हैं कि हमें मानवता की सेवा इसलिए करनी चाहिए कि हमें जीव मात्र पर दया करनी चाहिए अथवा अपने पड़ोसियों को अपने बराबर प्यार करना चाहिए। यही वह रहस्यलोक है, जहाँ पर खड़े होकर यह विश्व-वेदान्ती सभी धर्मों को एक नया पाठ पढ़ाता है। वे कहते हैं कि 'प्राणी-मात्र पर दया करो' – यह कितनी गलत बात है, क्योंकि जो जीव है वही शिव है। तुम ईश्वर पर कैसे दया करोगे! तुम्हें तो उसकी सेवा करनी है, वह दया का पात्र नहीं है। यह एक नया अन्तर्राष्ट्रीय कार्यक्रम है, जो श्रीरामकृष्ण देव ने हमें दिया है। यह एक नया आत्मबोध है और धर्म-दर्शन के भण्डार का कोहिनूर हीरा है। श्रीरामकृष्ण देव की समाधि-यात्रा १५ अगस्त, १८८६ को पूरी हुई। क्या यह संयोग नहीं है कि १५ अगस्त, १९४७ को ही भारत की आजादी सम्भव हुई। राजनीतिक आजादी का दिन तो लक्षण है। उसकी नैतिकता का प्रमाण-पत्र पहले ही लिख दिया गया था। अपनी अन्तर्मुखी यात्रा में श्रीरामकृष्ण देव एक विश्व-फकीर थे। सर्व-धर्म-समभाव जैसा कोई शब्द उनके पास नहीं रहा होगा, क्योंकि वे पारस्परिकता, साहचर्य, भातृभाव जैसी अभिव्यक्तियों के परे जाकर सभी धर्मों से खुद को एकाकार कर सकते थे।

आज भारत में संविधान ने धर्म-निरपेक्षता का जो आदर्श सुरक्षित किया है, उससे परे जाकर श्रीरामकृष्ण देव ने प्रत्येक विश्व-नागरिक को सभी धर्मों की उपासना का अन्तर्राष्ट्रीय संवैधानिक अधिकार दिया था। अपने-अपने धार्मिक विश्वासों को केवल सुरक्षित रखकर अथवा दूसरे धर्मों पर हमला नहीं करके सर्वधर्म समभाव का अंतर्राष्ट्रीय मानक नहीं बनाया जा सकता। श्रीरामकृष्ण देव के अनुसार हिन्दू का अल्लाह पर, मुसलमान का ईसा मसीह पर और ईसाई का राम पर नैतिक अधिकार है। उनका जीवन प्रयोगशाला की तरह है, जहाँ सभी धर्मों के विश्वास रसायन की तरह उनके अस्तित्व की कड़ाही में उबाले गये थे और उसमें से अन्ततः मानव-धर्म का अक्स निकला था। फ्रांस के असाधारण विद्वान् डॉ. सिलवेन लेवी ने ठीक कहा है कि श्रीरामकृष्ण देव का हृदय और मस्तिष्क विश्व के सभी देशों के लिए थे, तो उनका यश भी पूरी मानवता की सम्पत्ति है। ❑❑❑

मेरी अमरनाथ यात्रा

स्वामी आत्मानन्द

श्री अमरनाथ जी के दर्शन की कामना लेकर हम पाँच मित्र आश्रम की पुरानी कार द्वारा १९ अगस्त १९७२ की शाम को पहलगाम पहुँचे। अमरनाथ जी की यात्रा में यह पहला मुकाम है, इसलिए इसे पहलगाम कहते हैं। यहाँ से अमरनाथ की दूरी ४५ किलोमीटर है, जिसे पैदल या घोड़े पर तय करना होता है। दूसरा मुकाम चन्दनबाड़ी पहलगाम से १३ कि.मी. दूर है। तीसरा मुकाम शेषनाग चन्दनबाड़ी से १३ कि.मी., चौथा मुकाम पंचतरणी शेषनाग से १३ कि.मी. और अन्त में अमरनाथ पंचतरणी से ६ कि.मी. पर स्थित है। जब हम पहलगाम पहुँचे, तब 'छड़ी-मुबारिक' वहाँ पहुँच चुकी थीं। छड़ी-मुबारिक अमरनाथ जी का छात्र है, जिसे श्रीनगर स्थित मठ से लाया जाता है। श्रावण-पूर्णिमा यानी राखी-पूर्णिमा की सुबह छड़ी-मुबारिक के पीछे-पीछे सहस्र-सहस्र यात्री अमरनाथ जी पहुँचते हैं और दर्शन एवं पूजा आदि के उपरान्त लौट आते हैं। इस समय शासन की ओर से निवास, भोजन, दवा आदि सभी आवश्यक बातों का प्रबन्ध होता है।

इस वर्ष छड़ी-मुबारिक पहलगाम से २१ अगस्त को ब्राह्म मुहुर्त में ४ बजे निकलने वाली थीं और उन्हीं के साथ सारे यात्री। अबकी बार लगभग १० हजार यात्री पहलगाम में इकठ्ठा हुए थे और शासन ने भी बड़े पैमाने पर व्यवस्था की थी। पर पिछले कुछ दिनों से लगातार जोर की बारिश होने के कारण ऊपर पहाड़ों में भू-स्खलन हुआ, जिससे रास्ता टूट गया। अनधिकृत रूप से विदित हुआ कि कई घोड़े ऊपर भीषण ठण्ड के कारण मर गये; साथ ही कुछ व्यक्ति भी मारे गये। शासन अत्यन्त चिन्तित था। १९ अगस्त को भी पहाड़ों पर जोरदार वर्षा हो रही थी, इस कारण यात्रियों के लिए एक बड़ा खतरा पैदा हो गया था। शाम को सरकार ने मुनादी पिटवायी कि मौसम की विपरीतता के कारण २१ अगस्त को छड़ी-मुबारिक के साथ केवल दस व्यक्ति ही जा पायेंगे। अन्य किसी को नहीं जाने दिया जाएगा। एक सप्ताह तक अमरनाथ के रास्ते के बारे में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकेगा।

घोषणा सुनकर सभी यात्री निराश हो गये। अधिकृत तौर पर खबर लगी कि ऊपर रास्ता इतना खराब हो गया है कि सरकार अपनी सारी व्यवस्था समेट ले रही है। और इसका प्रमाण हमें दूसरे दिन मिल भी गया। यात्रियों की सुविधा के लिए सरकार ने गाँव-गाँव से जिन दो हजार घोड़ेवालों को ठेके पर पहलगाम बुला लिया था, उनको पैसा देकर चलता कर दिया। इससे हम लोगों की रही-सही आशा भी टूट गयी। एक दूसरी बात भी सुनायी पड़ी। यात्रियों में लगभग ५००-६०० साधु-संन्यासी थे ; वे अड़ गये थे कि छड़ी-मुबारिक के साथ हम भी जायेंगे। हमें क़ौन रोक सकता है? अगर हमें न जाने दिया गया, तो छड़ी-मुबारिक भी यहाँ से न जा सकेगी!

शासन संकट में पड़ गया। मंत्रियों सहित कई अधिकारी तब पहलगाम में थे। एक गुप्त बैठक में, जिसमें छड़ी के साथ चलनेवाले कुछ शीर्षस्थ संन्यासी भी शामिल थे, शासन ने यह तय किया कि ठीक है, यदि साधुओं का दल छड़ी-मुबारिक को नहीं जाने देता तो न सही, पर यात्रियों को किसी भी कीमत पर आगे नहीं जाने दिया जायेगा। उन्होंने यह भी तय किया कि २४ अगस्त, पूर्णिमा की सुबह ४ बजे छड़ी-मुबारिक को ३ व्यक्तियों के साथ हेलीकाप्टर द्वारा अमरनाथ जी की गुफा पर पहुँचा दिया जायेगा और पूजा आदि के बाद उन्हें सुबह ७ बजे तक पहलगाम वापस भी ला दिया जायेगा, जिससे परम्परा की रक्षा हो सके। जब २० अगस्त को सुबह विश्वस्त सूत्रों से हमें इस बात की खबर लगी, तो हमने श्रीनगर जाना स्थिर कर लिया। हमने विचार किया कि ६-७ दिन श्रीनगर और आसपास घूम लें। जब अमरनाथ का रास्ता खुल जाएगा, तो फिर से पहलगाम चले आयेंगे, पर अमरनाथ जी के दर्शन किये बिना नहीं लौटेंगे।

२२ अगस्त की रात को श्रीनगर में रेडियो पर सुना कि आज शाम को ४ बजे छड़ी-मुबारिक अमरनाथ जी के लिए रवाना हो गयी है। साथ में यात्रियों का दल भी गया है, पर शासन ने यह ऐलान कर दिया है कि उसकी ओर से किसी भी प्रकार की व्यवस्था नहीं रहेगी, जो जाना चाहें अपने जोखिम पर जायें। यह भी सुना कि १० हजार यात्रियों में से लगभग २-२॥ हजार ही यात्रा पर आगे बढ़े, शेष वापस लौट गये हैं।

इससे यह तो पता चला कि अमरनाथ जी का रास्ता खुल गया है। हम लोगों ने भी २५ अगस्त को पहलगाम पहुँचने का निश्चय कर लिया। २४ अगस्त को हम लोग सैर के लिए सोनमर्ग गये हुए थे। यह स्थान श्रीनगर से लेह-लद्दाख के रास्ते पर ८३ कि.मी. दूर है। वहाँ पता चला कि यहाँ से अमरनाथजी का रास्ता मात्र १ दिन का है। सोनमर्ग से १५ कि.मी. दूर बालटाल नामक जगह है, जहाँ तक कार जाती है।

वहाँ से अमरनाथ जी मात्र १७ कि.मी. रह जाते हैं ! बड़ा लोभ हो आया – कहाँ पहलगाम से कम-से-कम ४ दिन अमरनाथ जी की यात्रा में लगेंगे, और कहाँ यहाँ से १ ही दिन ! क्या करें कुछ सोच नहीं पा रहे थे, क्योंकि सारे गरम कपड़े और पूजा के सामान आदि श्रीनगर में ही छोड़ आये थे, शाम तक श्रीनगर लौटने की जो बात थी ! अन्त में यही निश्चय किया कि रात किसी प्रकार सोनमर्ग में बिता लें और दूसरे दिन अमरनाथ की यात्रा कर लें।

सोनमर्ग में एक सुन्दर टूरिस्ट बँगला है। पर पैसा कमाने की फिराक में उसके अधिकारी ने बताया कि सारे कमरे 'बुक्ड' हैं ! अन्त में एक छोटे-से होटलवाले ने हमें शरण दी। फल की एकमात्र छोटी दुकान से पूजा के लिए सूखे मेवे और रास्ते के लिए फल खरीदे और एक दूसरी दुकान से किराये पर आवश्यक गरम कपड़े, बरसाती और जूते ले लिये। सोनमर्ग में इन ३-४ दुकानों के अलावा और कोई झोपड़े नहीं हैं। रात में ठण्ड विकट थी, पर होटलवाले की शालीनता और उदारता से हमें पर्याप्त कम्बल मिल गये। रात में ही हमने एक 'गाइड' भी ठीक कर लिया।

अगले दिन यानी २५ अगस्त की सुबह 'गाइड' को लेकर हम कार द्वारा बालटाल के लिए रवाना हुए। लेह-लद्दाख मार्ग पर ७ कि.मी. जाने पर एक फौजी चेकपोस्ट आया। वहाँ हमसे अनुमति-पत्र माँगा गया। मैंने अपने गेरुए कपड़े की ओर संकेत करते हुए कहा, "इसी को आप अनुमति-पत्र समझ लें। हम संन्यासी हैं और अमरनाथ जी के दर्शनों को जा रहे हैं।" बस, फौरन हमें अनुमति मिल गयी। लगभग एक कि.मी. आगे जाने पर एक कच्चा रास्ता दाहिने हाथ पर बालटाल के लिए उतर गया है। वहाँ से बालटाल ७ कि.मी. दूर है। वहाँ फौजियों के कुछ तम्बू तने हैं। हमने कार बालटाल में छोड़ दी और अमरनाथ जी की १७ कि.मी. लम्बी यात्रा पर पैदल रवाना हो गये। गाइड ने घोड़े ले लेने को कहा, पर हमने नहीं कर दी। यात्रा के दिनों में यहाँ पर घोड़े मिल जाते हैं, पर इस रास्ते से इक्के-दुक्के लोग ही जाते हैं, अधिक संख्या फौजियों की होती है। यह रास्ता कितने समीप का है, इसका अन्दाज इसी से लगता है कि श्रीनगर से आप कार या टैक्सी द्वारा ९८ कि.मी. दूर बालटाल के लिए ४ बजे सुबह रवाना होकर ७ बजे पहुँच जाइए, वहाँ से घोड़े द्वारा १७ कि.मी. दूर अमरनाथ जी ११ बजे तक पहुँचिये। १ घण्टा गुफा में बिताकर ४ बजे शाम तक बालटाल लौटिये और सोनमर्ग की हिमनदियों व पार्वत्य सौन्दर्य का आनन्द लेते हुए उसी रात १० बजे तक श्रीनगर वापस लौट आइए ! है न चमत्कार? पर लोग इस रास्ते को नहीं जानते। सरकार भी लोगों को इधर से जाने देना पसन्द नहीं करती, क्योंकि एक ही दिन में ३४ कि.मी. आना-जाना पड़ता है, रास्ते में रुकने की कोई जगह नहीं है। फिर पहाड़ टूटने का भय बहुत है। मनुष्यों के पदचाप से हिलकर पहाड़ टूट पड़ते हैं। उनकी साँसों की गरमी हिमखण्डों को पिघला कर लुढ़का देती है। बड़े नाजुक जो है इधर के पहाड़ ! अस्तु।

बालटाल से ३ कि.मी. जाने पर ६ कि.मी. की सीधी चढ़ाई शुरू हो जाती है। इसमें १४ हजार फुट की ऊँचाई तक चढ़ना पड़ता है। ऊँचाई में साँस फूलने लगती है। एक-एक कदम भारी लगता है। गला सूखने लगता है। ऐसी दशा में थरमस की गरम चाय या काफी बहुत उपकार करती है। पर हमारे पास यह सब कहाँ था? बीच में हिमनदियाँ भी मिलीं। ऊपर बर्फ जमी होती है और नीचे वेग से जल-प्रवाह बहता होता है। ये हिमनदियाँ कभी-कभी भयानक दुर्घटना का कारण बन जाती हैं। पार करते समय बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती है। कभी-कभी बीच की बर्फ एकदम टूट जाती है और उसके साथ यात्री नीचे गिरकर जलधारा में बह जाता है। गाइड इन विपत्तियों से रक्षा करता है। बर्फ और हिमनदियों को देखकर स्वामी विवेकानन्द जी की अमरनाथ-यात्रा की बात याद आ गयी। उनकी जीवनी में लिखा है कि जुलाई १८९८ ई. में वे सोनमर्ग के रास्ते अमरनाथजी की यात्रा पर निकले थे, पर रास्ते में बर्फ की अधिकता के कारण उन्हें वापस लौटना पड़ा था। तात्पर्य यह कि सोनमर्ग का मार्ग भी पर्याप्त प्राचीन मालूम पड़ता है।

इस सीधी चढ़ाई के बाद १ कि.मी. का उतार आता है और वहाँ से पुनः ३ कि.मी. की सख्त चढ़ाई। यह चढ़ाई चढ़ लेने पर उसी स्थान पर पहुँचना होता है, जहाँ पर पंचतरणी से आनेवाला रास्ता मिलता है। यहीं से गुफा के दर्शन होने लगते

हैं। इसके बाद ३ कि.मी. उतार का रास्ता है, जो अधिकांशतः बर्फ से ढँका रहता है। अन्तिम १ कि.मी. गुफा तक पुनः कठिन चढ़ाई है। बड़ी मुश्किल से हम लोग गुफा के नीचे २ बजे पहुँचे। पर गुफा तक जाने का साहस न हो पा रहा था। ताकत जवाब दे रही थी। शरीर के भीतर की आर्द्रता नष्ट हो रही थी, dehydration के कारण बुरा हाल था। शरीर सुन्न हो रहा था और लेट जाने की इच्छा हो रही थी। गाइड ने यह देखा तो मना करते हुए बोला, 'महाराज ! यह क्या कर रहे हैं? उठिये, उठिये। बैठिये मत। हाथ-पैर चलाते रहिये, नहीं तो गजब हो जाएगा ! उससे मालूम पड़ा कि बर्फीले स्थानों पर ठण्ड के कारण अनभ्यस्त लोगों को हिम-रोग हो जाता है। इससे रोगी को तन्द्रा आती है और उसे सोने में सुख का अनुभव होता है। यदि वह सो जाय, तो फिर कभी नहीं उठता, वही उसकी चिरनिद्रा होती है।

मैं उठ पड़ा। रास्ते में भाग्य से एक सज्जन ने मुझे एक नीबू दिया था। गाइड के निर्देशानुसार मैं उसे चूसने लगा। उससे कुछ शक्ति मिली। यात्री को साथ में कुछ नीबू और नमक अवश्य रख लेना चाहिए। गरम जल में नमक डालकर, नीबू का रस निचोड़ कर उसे पीने से ताजगी मालूम पड़ती है। गरम जल न हो तो ठण्डा जल ही चलेगा। अस्तु। कुछ स्वस्थ होने पर नीचे बहनेवाली अमरगंगा में अंगों का प्रक्षालन कर, हृदय में साहस भर, अमरनाथ जी का जय-जयकार करते हुए किसी प्रकार गुफा में पहुँचे। तब ३ बज चुके थे। १७ कि.मी. चलने में हमें ८ घण्टे लग गये थे ! यदि गाइड की सलाह मानकर हम लोगों ने घोड़े कर लिये होते, तो इतना कष्ट न होता। गुफा का दृश्य अपूर्व था। १३,५०० फुट की ऊँचाई पर स्थित यह नैसर्गिक गुफा लगभग ६० फुट लम्बी, २५ से ३० फुट चौड़ी और १५ फुट ऊँची है। प्रवेश करने पर दाहिनी ओर, लगभग १८-२० फुट भीतर, गुफा की दीवाल से लगा हुआ हिम-लिंग अपूर्व छटा बिखेरते हुए विद्यमान था। हिम के प्राकृतिक पीठ पर बना ठोस बर्फ का यह लिंग उस दिन ६॥ फुट ऊँचा था और उसकी गोलाई ७-८ फुट रही होगी। मन के भीतर एक अपूर्व भाव का संचार होने लगेगा। श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मैंने अमरनाथजी को प्रणाम किया और भावातिरेक में उन्हें अपने आलिंगन-पाश में जकड़ लिया। तदनन्तर उनकी पूजा समाप्त कर मैं थोड़ी दूर पर खड़ा हो गया और चित्त अमरनाथ जी की महिमा के ध्यान में डूब गया।

किसी ने कन्धा पकड़कर मुझे हिलाया, ध्यान की शृंखला टूटी तो देखा कि गाइड गुलाम मुहम्मद कह रहा है, "महाराज ! देर न कीजिए। लम्बा रास्ता है। देखिये, चार बज गये। देर होने पर कुछ भी हो सकता है।" मैंने भक्ति-गद्गद चित्त से अमरनाथ जी को पुनः प्रणाम किया और बाहर की ओर आकर अपनी दृष्टि गुफा में चारों तरफ दौड़ायी। तब भी यात्री पंचतरणी के रास्ते आ-जा रहे थे। गुफा में भी २५-३० यात्री तब रहे होंगे। बायीं तरफ लगभग १० फुट अन्दर पहाड़ से लगे हुए हिम के दो पिण्ड और थे, जिन्हें गणेश-पीठ और पार्वती-पीठ के नाम से पुकारते हैं। मान्यता है कि यह पार्वती-पीठ ५१ शक्तिपीठों में से है, जहाँ पर सती का कण्ठ गिरा था। गुफा के कई स्थानों पर छत से पानी चू रहा था। पर हिमलिंग अनादिकाल से उसी एक स्थान पर विराजमान है, यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है, भले ही वह आकार में छोटा-बड़ा होता रहता है।

मैंने सुन रखा था कि गुफा में कबूतर का एक जोड़ा दिखायी देता है। पर ऐसी कोई बात नहीं थी। उस दिन तीन कबूतर दिखे। उसके पहले दिन ४ कबूतर और २ कौए देखे गये थे। गाइड ने बताया कि पक्षियों की संख्या बदलती रहती है। गाइड से यह भी मालूम हुआ कि काश्मीर के मुसलमान अमरनाथ जी को बाबा आदम के नाम से पुकारते हैं और उन पर श्रद्धा रखते हैं। अमरनाथ जी की चढ़ोतरी के तीन भाग होते हैं - एक भाग छड़ी-मुबारिक मठवाले पाते हैं, दूसरा भाग उनका पुजारी पाता है और तीसरा भाग मुसलमानों की धार्मिक संस्थाओं को प्राप्त होता है। सुनकर दो आपात्-विरोधी धर्मों के सामान्य श्रद्धा-केन्द्र अमरनाथ जी को मैंने एक बार पुनः प्रणाम किया और गुफा के नीचे उतर आया।

अब चलने में कठिनाई हो रही थी। गाइड के प्रयत्न से मुश्किल से हमें घोड़े मिल सके। बीच में इधर वर्षा हो गयी थी, जिससे भू-स्खलन होकर रास्ता कहीं-कहीं बहुत अधिक खराब हो गया था। तब गाइड के कथन का मर्म समझ में आया कि देर होने पर कुछ भी हो सकता है। बहुत-सा भाग पैदल ही चलकर आना पड़ा। हम लोग ८ बजे रात को बालटाल पहुँचे और वहाँ से अपनी कार ले १२ बजे रात को श्रीनगर वापस आ गये। जय अमरनाथ जी की ! हर हर बम् बम् !!

(आकाशवाणी, रायपुर से ८-१०-१९७२ को प्रसारित)

श्रीमाँ की पूज्य स्मृति

*सुधीर चन्द्र सामुई**

माँ श्री सारदा देवी दैवी मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। हमारे लिए बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

अत्यन्त छुटपन से ही मुझे श्रीमाँ सारदा देवी का सान्निध्य मिला था। अपनी स्मृति से कुछ घटनाओं का उल्लेख करता हूँ। मेरे पिता का नाम सतीश सामुई था। मेरी दादी माँ के यहाँ 'सत्तू की माँ' के नाम से जानी जाती थीं। माँ का 'नया घर' बनने के बाद से मेरी दादी माँ के घर में सेविका के रूप में काम करती थीं। मेरी दादी प्रतिदिन सुबह उनके कच्चे कमरे का फर्श लीप देती और उनके उतारे हुए वस्त्र आदि धोने का काम करती थीं। इसी सुयोग से मैं भी प्राय: प्रतिदिन अपनी दादी के साथ उनके पास जाया करता था। श्रीमाँ भी मुझसे बड़ा स्नेह करतीं। उनके निर्देशानुसार पूर्वरात्रि के ठाकुर-भोग का कुछ प्रसाद मेरे लिए रखा रहता। उसी लोभ से मैं दादी के साथ माँ के घर जाने का अभ्यस्त हो गया था।

मेरे पिता निरक्षर थे, परन्तु गाँव में एक कुशल किसान के रूप में परिचित थे। माँ बीच-बीच में हमारे घर आतीं। उन्हें हमेशा हरे साग-सब्जियों की जरूरत पड़ती रहती थी। वे कहतीं – "मेरे कई बच्चे आए हैं। क्या-क्या सब्जियाँ मिलेंगी?" जरूरत के अनुसार बताकर वे कहतीं – "सत्तू की माँ, अपने नाती के हाथों यह सब मेरे घर भेज दो।" मैं भी खुशी-खुशी वह सब पहुँचा आता। निरक्षर होने के कारण मेरे पिता सभी चीजों का ठीक कीमत नहीं ले पाते थे। लोग उन्हें प्राय: ठग लेते। इसलिए माँ मेरी दादी से कहतीं – "सत्तू की माँ, अपने नाती को पढ़ना-लिखना सिखाना। उसकी पढ़ाई होगी।" ऐसा कहकर उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया था। ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है, बिना उनकी असीम आशीर्वाद के एक निरक्षर पिता का पुत्र हुए भी, मुझे जयरामवाटी गाँव से कलकत्ता विश्वविद्यालय के पहले स्नातक होने का जो सौभाग्य प्राप्त हुआ, वह कभी सम्भव नहीं होता।

श्रीमाँ के एक पाँव में वात था। इसलिए वे पाँव मोड़कर बैठ नहीं पाती थीं। जब वे हमारे घर आतीं तो उनके लिए मिट्टी के चबूतरे पर कम्बल बिछा दिया जाता। वे पैर लटकाकर बैठतीं। मैंने देखा है, अपने नये घर में खाट के ऊपर वे लटकाकर बैठीं हैं और स्वामी सारदानन्द जी महाराज कमल के फूलों से उनकी चरण-पूजा कर रहे हैं। उस समय मैं विस्मित होकर शिशु-सुलभ मनोभाव से केवल इतना ही सोचता – ये कौन हैं? ये लोग साधु-संन्यासी होकर भी इनकी पूजा क्यों करते हैं? लेकिन उस समय मेरी कुछ भी समझने की क्षमता और बुद्धि नहीं थी।

उस समय गाँव में पाठशाला न थी, इसलिए माँ ने गाँव में छोटे-छोटे बच्चों के लिए एक प्राथमिक विद्यालय की स्थापना करायी। उन्होंने ही विद्यालय के शिक्षकों को वेतन देने की व्यवस्था भी की। उस समय बाँकुड़ा से विभूति घोष महाशय प्राय: ही जयरामवाटी में माँ के पास आते। विभूति बाबू को वे स्नेह से कालो मानिक (काला-मणि) कहतीं। गाँव के गरीब किसानों के प्रति उनके मन में असीम करुणा थी। मैंने माँ को कहते सुना है – "विभूति, आमोदर नदी पर बाँध बनाकर इस पानी को आहेरे (वर्तमान में माँ के तालाब में) ला देने से गाँव के गरीब किसानों का उपकार होगा। प्राय: ही खड़ी फसल नष्ट हो जाती है। चेष्टा करके तुम पानी की व्यवस्था कर दो, तो बहुत-से लोगों का हित होगा।' उस समय बदनगंज स्कूल के प्रधान-शिक्षक श्री प्रबोध चट्टोपाध्याय लगभग हर शनिवार को माँ के पास आते और रविवार के दोपहर में स्कूल लौट जाते। उनके साथ अनेक छात्रों को भी आते देखा है। उनमें 'राममय' नाम का एक अल्पवयस्क छात्र भी था। ये राममय श्रीमाँ के अशेष स्नेहभाजन हुए। बाद में वे स्वामी गौरीश्वरानन्द जी महाराज हुए। जब वे संसार त्याग करने का निर्णय लेकर माँ के पास आये, उस समय उनके पिता-माता तथा अन्य सगे-सम्बन्धी माँ के पास आकर उन्हें संसार में लौटा ले जाने के लिए अनुरोध कर रोने लगे। माँ ने उन्हें समझा-बुझाकर, सांत्वना देकर घर वापस भेज दिया। यह दृश्य मुझे अपनी आँखों से देखने का सुयोग प्राप्त हुआ है।

डकैत अमजद कभी-कभी माँ से मिलने आता। उसे देख मुझे बहुत भय लगता। लेकिन माँ उसे बड़े स्नेह-यत्न से घर

* जयरामबाटी-निवासी लेखक डेवपाड़ा के चम्पामणि उच्च विद्यालय के प्रधानाचार्य थे; १९९४ ई. में ८७ वर्ष की आयु में वे दिवंगत हुए।

में बुलाकर खाने को देतीं, यह मैंने अपनी आँखों से देखा है। उन दिनों गाँव में पीने के पानी की उचित व्यवस्था नहीं थी। एक ही तालाब में स्नान होता था और उसी का पानी पीने के काम भी लाया जाता। इसीलिए माँ ने पूजनीय शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द) से कहकर जयरामवाटी गाँव में एक कुँआ खुदवाने की व्यवस्था की थी। जगद्धात्री पूजा के समय प्रतिवर्ष माँ सभी ग्रामवासियों को भरपेट भोजन से सन्तुष्ट करतीं और स्वयं ही सारी व्यवस्था देखतीं। प्रत्येक ग्रामवासी के प्रति उनका स्नेह-प्रेम असीम था।

माँ जिन दिनों अपने भाइयों के घर में रहती थीं, उन दिनों मेरी आयु काफी कम थी। अत: उस मकान में मेरा आना-जाना कम ही था। लेकिन बीच-बीच में जब भी गया हूँ, देखा है कि पगली मामी (राधू की माँ) श्रीमाँ से झगड़ा कर रही है। उसका दिमाग खराब था, इसलिए सभी उसे 'पगली' कहते। वे माँ से झगड़ा कर उन्हें कटु बातें कहतीं। माँ सब कुछ हँसकर सहन कर लेतीं। लेकिन एक बार उनके धैर्य का बाँध टूट गया। उस दिन पगली मामी एक बड़ी लकड़ी लेकर माँ को मारने दौड़ी। अनजाने में माँ ने पगली मामी को शाप दे डाला। बोलीं – "एक दिन तुम्हारा यह हाथ गिर जायेगा।" पर अगले ही क्षण खूब पश्चात्ताप करते हुए बोलीं – "यह मैंने क्या कर डाला?" यह घटना मेरी देखी या सुनी हुई नहीं है। यह मैंने पूजनीय इन्दुबाला देवी (माँ के मँझले भाई की पत्नी) के मुँह से सुनी थी। बाद में मैंने देखा कि पगली मामी असाध्य कुष्ठरोग से ग्रस्त हो गयीं।

इस बीच साधु-भक्तों का जयरामवाटी में आना-जाना बहुत बढ़ गया और माँ के भाइयों के मकान में रहना प्राय: असम्भव हो गया; अत: स्वामी सारदानन्द महाराज ने उनके लिए अलग मकान बनवाने की जरूरत महसूस की। पास के ही रामशरण कर्मकार के गिरे हुए मकान को खरीदने की व्यवस्था हुई और वहाँ एक कच्चे मकान का निर्माण आरम्भ हुआ। इस काम को पूरा करने का भार ब्रह्मचारी रासबिहारी महाराज और ब्रह्मचारी ज्ञान महाराज को मिला। मकान तैयार होने पर श्रीमाँ, राधू दीदी और नलिनी दीदी माँ के इस नये मकान में निवास करने लगीं। उसी समय से मेरी दादी इस मकान में नौकरानी के रूप में काम करती थी और मुझे प्राय: प्रतिदिन उस मकान में जाने की आदत लगी।

माँ को प्राय: ही मलेरिया का बुखार हो जाता था। उनकी बीमारी का संवाद पाते ही उद्बोधन से शरत् महाराज कलकत्ते से डॉक्टर काँजीलाल को लेकर वहाँ आते। बीमारी से भोगते भोगते उनका शरीर काफी दुर्बल हो गया था, अत: उन्हें दूध पिलाने के लिए एक दुधारू गाय खरीदी गयी। इस गाय की देखभाल के काम में मेरे छोटे मामा रामेन्द्र घोष को नियुक्त किया गया। भाद्र के महीने में एक दिन जब वे मैदान में घास काटने गये, तो उनके हाथ की तर्जनी उंगली में एक पनिहा साँप ने काट लिया। बाँकुड़ा के विभूति बाबू और एक डॉक्टर ने मिलकर उनका हाथ बाँध दिया और चाकू से हाथ की उँगली चीरकर खून निकाला। खबर पाकर माँ घटना-स्थल पर आयीं और बोलीं – "अरे विभूति, यह सब क्यों कर रहे हो? उसे सिंहवाहिनी के मण्डप में ले जाओ और उसे माँ के स्नान का जल पिला दो और घाव पर माँ के स्थान की मिट्टी का लेप कर दो। वह ठीक हो जाएगा। वैसा ही किया गया। दो-तीन दिन में ही स्वस्थ होकर मामा घर लौट आये। राधू दीदी और नलिनी दीदी के प्रति माँ का स्नेह -प्रेम कितना गहन था, यह बताना मेरे लिए सम्भव नहीं। ताजपुर के जमींदार-घराने के लड़के – राधू दीदी के पति – मन्मथ चट्टोपाध्याय ने भी माँ का अपार स्नेह-प्रेम पाया था। उस समय वे प्राय: जयरामवाटी में माँ के नये घर में आते और काफी दिन निवास करते। उनमें थोड़ी-बहुत बुरी आदतें थीं। वे गाँजा पीते और शाम के समय ग्रामोफोन के साथ अड्डा लगाते। एक रात ग्रामोफोन पर गाना बज रहा था। रात बहुत हो गयी थी। माँ स्वयं हाथ में लालटेन लिए पुकार रही थीं – "मन्मथ, बहुत रात हो गयी है। मैं तुम्हारा खाना लेकर बैठी हूँ।" यह सुनकर मन्मथ बाबू तेजी से चले गये। यह दृश्य मैंने स्वयं अपनी आँखों से देखा है।

नलिनी दीदी का कट्टर विधवा ब्राह्मणी का स्वभाव था। वे माँ का उदार आचरण सहन नहीं कर पाती थीं और प्राय: ही श्रीमाँ के निर्णय का प्रतिवाद करतीं। उसके उत्तर में माँ कहतीं – "देख, मैं तो अपनी सन्तानों के प्रति दो प्रकार के आचरण नहीं कर सकती। मेरे सभी बच्चे समान हैं।"

इसी मकान में रहते समय श्रीमाँ की एक अन्य भतीजी माकू का दुधमुँहा बच्चा सहसा डिप्थीरिया रोग से ग्रस्त हो गया और चिकित्सा का मौका दिये बिना ही चल बसा। खबर पाते ही हम लोग देखने गये। वहाँ पहुँचकर देखा कि माकू दीदी के पिता, नलिनी दीदी तथा अन्य सगे-सम्बन्धी जोरों से विलाप कर रहे हैं। श्रीमाँ को उस बच्चे से बड़ा लगाव था। उन्हें भी मैंने थोड़ा व्यथित और शोकग्रस्त देखा, पर अगले ही क्षण वे सबको सांत्वना देने और आश्वस्त करने लगीं। उनकी सहनशीलता देखकर मैं तो अवाक् रह गया था।

जयरामवाटी में विश्वास-परिवार की बाल-विधवा भानु-बुआ के साथ श्रीमाँ के प्रेम और सखीत्व के बारे में दो-एक बातें कहे बिना मेरा वक्तव्य अधूरा रह जायेगा। मैं देखता कि वे दोनों प्राय: सर्वदा एक साथ रहना चाहतीं। दोनों प्रतिदिन एक साथ बाड़ुज्ये तालाब में स्नान करने जातीं। विशेष पर्व के दिन दोनों लोग पड़ोसिनियों को लेकर मैदान के मेड़ से होकर आमोदर नदी में स्नान करने जातीं। किसानों को खेत में काम करते देखकर वे कहतीं –"ये लोग इतनी मेहनत

करते हैं, तो भी भरपेट खाने को नहीं पाते।'' नदी के जिस घाट पर श्रीमाँ स्नान करतीं, उसी को अब पक्का बना दिया गया है और 'मायेर घाट' के नाम से जाना जाता है।

फुरसत के समय ये दोनों सखियाँ एक साथ बैठकर बातें करतीं। वे जो बातें करतीं, उन्हें मैं समझ नहीं पाता था। तो भी उनकी जो दो-चार बातें मुझे अब भी याद हैं, उससे बाद में यही समझ सका हूँ कि वे परमार्थ और ठाकुर के विषय में चर्चा किया करती थीं।

प्रसंगत: एक विशेष घटना मुझे याद आ रही है। उस घटना का मैं प्रत्यक्षदर्शी हूँ। घटना आज से ७५-७६ वर्ष पूर्व की है। दिन-तारीख मुझे याद नहीं। पर वह माँ के द्वारा अनुष्ठित जगद्धात्री-पूजा का दिन था। माँ के बड़े भाई प्रसन्न कुमार मुखोपाध्याय और वरदा प्रसाद मुखोपाध्याय के संयुक्त बैठकखाने में इसका अनुष्ठान हुआ था। बिना किसी भेदभाव के गाँव के सभी स्त्री-पुरुष को निमंत्रित किया गया था। इस पूजा के उपलक्ष्य में प्रतिवर्ष के समान श्रीमाँ ने एक दिन सभी ग्रामवासियों को विराट् भोज के लिए आमंत्रित किया था। माँ के मँझले भाई काली कुमार मुखोपाध्याय के घर से जुड़ी परती जमीन पर शामियाना लगाकर आमंत्रित लोगों को खिलाने की व्यवस्था हुई थी। माँ के पुराने घर में स्थानाभाव के कारण बिहारी लाल घोष के मकान में रसोई बनी थी।

श्रीमाँ के पितृवंश के कुलगुरु पाक-माजिट्या ग्रामवासी पण्डित राजेन्द्रनाथ भट्टाचार्य स्मृतितीर्थ ने तंत्रधारक का काम किया और पुखुरिया ग्रामवासी माँ के पितृवंश के कुलपुरोहित हृषीकेश भट्टाचार्य स्मृतितीर्थ ने पूजा की। सप्तमी, अष्टमी तथा नवमी को पूजा विधिवत् सम्पन्न हुई। होम-आरती तब भी समाप्त नहीं हुआ था। दोपहर बीत चुका था। दोपहर के भोजन के समय पहले ब्राह्मणों को और तत्पश्चात् ब्राह्मण-महिलाओं को भोजन कराया जायेगा। उसके बाद उस स्थान को साफ करके अन्य उच्च-वर्ण के लोगों को और अन्त में बाकी लोगों को खिलाया जायेगा। अत: ब्राह्मण-भोजन की व्यवस्था पूरी हो चुकी थी। निमंत्रित ब्राह्मण पंक्तियों में बैठ गये। उनके पत्तल में भात परोस दिया गया। सब्जी परोसी जा रही थी। ब्राह्मण आचमन करके भोजन करने लगे। तभी दो ब्रह्मचारी हाथों में बाल्टी लिए पंक्ति में सब्जी परोसने आये। उन्हें देखकर ब्राह्मण शोर मचाते हुए उठ खड़े हुए। उन्होंने चिल्लाना शुरू कर दिया। वे उच्च स्वर में कहने लगे – ''ये लोग किस जाति के हैं? इन्हें किसने परोसने के लिए कहा? हमारी जाति चली जायेगी। हम नहीं खायेंगे।'' इतना कहकर सभी एक साथ बिना खाये ही पंक्ति से उठ गये।

यह दृश्य देखकर माँ खूब विचलित हो गयीं। वे व्यथित हृदय के साथ सबसे सविनय अनुरोध करने लगीं कि ब्राह्मण लोग बिना खाए न जायँ। माँ की वह कैसी आकुलता थी! परन्तु ब्राह्मण लोग कुछ भी सुनने को तैयार न थे। तब माँ भानु बुआ के रिश्ते में भाई लगनेवाले योगेन्द्रनाथ विश्वास के पास गयीं। उनका घर माँ के घर के बहुत पास था और वे माँ के भाइयों के यजमान भी थे। उसके बाद मैंने देखा माँ गाँव के एक गणमान्य व्यक्ति राजेन्द्रनाथ घोष के घर अनुरोध करने जा रही हैं। इसी प्रकार वे सबसे अनुरोध करती रहीं, ताकि वह विवाद मिट जाय और ब्राह्मण लोग फिर से भोजन के लिए बैठ जायँ तथा अन्य निमंत्रित लोगों के भोजन में भी बाधा न पड़े। थोड़ी ही देर में योगेन्द्रनाथ विश्वास के बैठकखाने में गाँव के प्रधान लोगों की बैठक हुई। उन दिनों गाँव के पाँच मुख्य लोग और जमींदारों का एक प्रतिनिधि मिलकर सारे विवादों पर विचार तथा उनका निपटारा किया करते थे। इस दिन के बैठक में जीबटा ग्राम का जमींदार-परिवार भी निमंत्रित था। वहाँ जमीदारों के प्रतिनिधि के रूप में शम्भुनाथ राय भी उपस्थित थे। वे माँ के मंत्रशिष्य थे। इस बैठक में ब्राह्मणों की ओर से रामदास वन्द्योपाध्याय, शिवराम वन्द्योपाध्याय, रामनाथ मुखोपाध्याय, केदारनाथ मुखोपाध्याय, राजकुमार मुखोपाध्याय तथा अन्य लोग उपस्थित थे। बैठक में उपस्थित सभी ब्राह्मण जयरामवाटी के निवासी थे। बैठक में उपस्थित ब्राह्मणेतर लोग भी जयरामवाटी के ही निवासी थे। उसमें केवल शम्भुनाथ राय ही दूसरे गाँव के थे और वे इस अंचल के पवनीदार अर्थात् जमींदारों के प्रतिनिधि थे। पवनीदार होते हुए भी जिबटा गाँव के राय-परिवार के जमींदार के रूप में इस अंचल में सम्मानित थे और शीर्ष-स्थानीय व्यक्ति के रूप में अधिकांश गाँवों की बैठक में वे प्राय: उपस्थित रहते थे।

काफी चर्चा के बाद समाजपतियों ने ब्राह्मणों से पूछा कि वे क्या चाहते हैं? क्या करने पर वे लोग पुन: भोजन करना स्वीकार करेंगे। सबने कहा कि माँ को जुर्माना देना होगा। माँ को यह बात बताने पर, वे जुर्माना देने को राजी हो गयीं। अन्त में यह निश्चित किया गया कि माँ को २५ रुपये जुर्माना देना होगा। कोई कोई कहते हैं – ''जयरामवाटी गाँव के किसानों ने माँ पर जुर्माना किया था।'' लेकिन वस्तुत: उन लोगों ने माँ पर जुर्माना नहीं किया था।[१]

वर्तमान में मैं जीवन संध्या में आ पहुँचा हूँ। उस पार से पुकार आने की प्रतीक्षा में हूँ। मेरा दृढ़ विश्वास है कि जब मैंने माँ के दर्शन और उनके चरण-स्पर्श का सौभाग्य पाया है तो मृत्यु के बाद मेरी मुक्ति निश्चित है। ❖ **(क्रमश:)** ❖

१. स्वामी ईशानानन्द के 'माँ के सान्निध्य में' पुस्तक में (प्रथम सं., पृ. २७ पादटीका) इस घटना का कुछ भिन्न विवरण मिलता है। स्वामी गम्भीरानन्द की 'श्रीमाँ सारदा देवी' ग्रन्थ में भी यह घटना है। तथापि स्वामी ईशानानन्द के अनुसार पंक्ति से जिबटा के (सद्गोप) जमीदारगण और गम्भीरानन्द जी के अनुसार ब्राह्मण जमींदार उठे थे। माँ के भतीजे गणपति मुखोपाध्याय के अनुसार लेखक का विवरण गलत है। – सं.

श्रीरामकृष्ण का आकर्षण

डॉ. ओंकार सक्सेना, एम.एस., जयपुर
(भूतपूर्व विभागाध्यक्ष, शल्य-चिकित्सा विभाग, सवाई मानसिंह मेडिकल कॉलेज, जयपुर)

धर्म और उसकी अभिप्रेरणा ने व्यक्ति की आध्यात्मिक आवश्यकता, समुदाय के परस्पर सम्बन्ध और सामाजिक संगठन तथा प्रगति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। वह धर्म जो अपने सीमित दायरे में वरदान और उसके बाहर अभिशाप बना, उसने अपने अनुयायियों को संकीर्ण व हठधर्मी बनाया, इसके विपरीत भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन ने व्यक्ति को ऊपर उठाया और अनेकता में एकता का ज्ञान देते हुए बताया कि जो सत्-चित्-आनन्द हैं, वे ही स्थावर-जंगम सब कुछ हुए हैं। आज के इस वैज्ञानिक युग में उपनिषदों की यह वाणी विश्वव्यापी स्वीकृति प्राप्त कर रही है और इसे व्यावहारिक बनाने की चेष्टा भी उत्तरोत्तर बढ़ रही है। स्वामी रंगनाथानन्द जी लिखते हैं, "आधुनिक संसार में यदि धर्म को जीवन्त शक्ति बनकर मनुष्य की भावी सभ्यता के संचालन में योग देना है, तो उसे पुनरुक्त होकर यौक्तिक एवं वैज्ञानिक साँचे में ढलना होगा। विज्ञान मानव-जाति के समैक्य का आदर्श है। गत तीन सदियों को वैज्ञानिक प्रगति के अन्त:करण में अतीत के महान् कवियों एवं दार्शनिकों की कल्पनाओं के फलीभूत होने की अपरिमित सम्भावनाएँ हैं। इनकी संसिद्धि के लिए नवीन चेतना, नवीन प्रत्याशा तथा एक सर्वमान्य नवीन सन्देश की आवश्यकता है जो एक ओर तो एक धर्म तथा अन्य धर्मों में और दूसरी ओर धर्म और विज्ञान के बीच मध्यस्थता कर सके। यह सन्देश कहाँ है? और कहाँ मिलेगी यह मानसिक उत्प्रेरणा? इस आग्रही प्रश्न ने प्राच्य एवं पाश्चात्य दोनों के ही मननशील लोगों की दृष्टि वेदान्त के अमूल्य भारतीय भण्डार की ओर उन्मुख कर दिया है।"

दिग्विजय अथवा सार-संग्रह के सहारे पुराने सम्प्रदायों में से आज तक कोई भी सम्प्रदाय सर्वमान्य नहीं बना और यही तर्क नवीन सम्प्रदायों के लिए भी सत्य है। अत: कोई भी धर्म या सम्प्रदाय सार्वभौमिक नहीं हो सकता। स्वामी रंगनाथानन्द जी कहते हैं, "सार्वलौकिकता की परख, अनेकता में एकता है, मन्द एवं मृत एकरूपता में नहीं।" श्रीरामकृष्ण देव के सर्व-धर्म-समन्वय का सर्वप्रथम आदर्श भी यही है, "**यदि एक मत सत्य है तो इसी तर्क-संगति से सभी मत सत्य हैं।**" स्वामी विवेकानन्द का सत्यापन है, "पवित्रता, शुचिता एवं उदारता पर किसी एक मतवाद का एकाधिकार स्वामित्व नहीं है, प्रत्येक समुदाय ने अत्यन्त गौरवशाली चरित्र के स्त्री-पुरुषों को उत्पन्न किया है।" इस युग में श्रीरामकृष्ण देव ने इस समन्वयकारी सूत्र की बुनियाद जटिल तपस्या एवं अतुल मानव-प्रेम पर रखी है। उन्होंने एक वैज्ञानिक अन्वेषक की भाँति विभिन्न धार्मिक पद्धतियों के माध्यम से बारह वर्षों तक आध्यात्मिक प्रयोग किये और प्रत्येक प्रयोग के अनुभव अन्ततोगत्वा उन्हें उसी एक स्थान, उसी एक गन्तव्य पर ले गए। उनकी साधना का सार-तत्व – "जतो मत ततो पथ' (जितने मत हैं, उतने मार्ग हैं) श्रीकृष्ण के – "सभी मार्गों की पहुँच मैं ही हूँ" अथवा वैदिक श्रुति – "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" (सत्य एक है, ज्ञानी उसे अनेक नामों से पुकारते हैं) – इन सबका संकेत उस सनातन प्रकाश की ओर है, जो मनुष्य के भीतर से बिखर रहा है और उसके उस दीपक का प्रकाश जब-जब मन्द हो जाता है, तब-तब एक विभूति आकर उस दीपक की बत्ती को तनिक ऊपर उठा देती है। ये विभूतियाँ ईश्वर-मानव हैं और वे मानव-हृदय को प्रकाशित कर मानव-ईश्वर बना देने की क्षमता रखती हैं। ऐसी ही एक विभूति ने लगभग पौने दो सौ वर्ष पूर्व भारत भूमि को फिर से पवित्र किया था और इन्हीं श्रीरामकृष्ण देव के चरणों में बैठकर स्वामी विवेकानन्द ने अपने आपको धन्य तथा कृतकृत्य महसूस किया था।

वर्तमान युग में संसार-भर में करोड़ों लोग श्रीरामकृष्ण देव से प्रभावित हुए हैं। इनमें से कुछ आध्यात्मिक मुमुक्षु हैं, जिन्होंने इन पर ध्यान केन्द्रित किया और पूर्णत्व को पाया; कुछ संवेदनशील दार्शनिक, लेखक व कलाप्रेमी हैं, जिन्होंने इनके विचारों को आत्मसात किया तथा सृजनात्मक प्रेरणा पाकर मानवता का मार्ग-दर्शन किया है; कुछ भक्त हैं जिन्होंने अपने आपको इनके प्रेम में सुरक्षित कर लिया है तथा निश्चिन्त हो गये हैं; कुछ प्रभावित हैं तथा अब उनकी जीवन-शैली मनुष्य के चिन्मय स्वरूप को देखने लगी है और कुछ ऐसे भी हैं जिन्होंने न इन्हें जाना और न ही इनसे कुछ अपेक्षा की, फिर भी उन्हें इनकी देवदुर्लभ कृपा मिली है। स्वामी विवेकानन्द ने ठीक ही कहा था, "वे मिट्टी के लौंदे से भी हजारों विवेकानन्द गढ़ सकते हैं।" नोबल पुरस्कार से सम्मानित फ्रांस के रोमाँ रोलाँ के शब्दों ने (जिनमें सर्वाधिक सौन्दर्य, आकर्षण और सार्वजनिकता है) यूरोप का ध्यान श्रीरामकृष्ण देव की ओर आकृष्ट कर दिया था। वे लिखते हैं, "इन आध्यात्मिक महापुरुषों के शानदार जुलूस में से (जिनके बारे में मैं आगे चलकर चर्चा करूँगा), मैंने केवल दो महापुरुषों को चुना है, जिन्होंने अतुलनीय शक्ति एवं सौन्दर्य द्वारा विश्वात्मा के इस अनुपम स्वर-संगीत को

उपलब्ध किया है, और इसलिये जिनके प्रति मेरा हृदय विशेष रूप से श्रद्धान्वित है, उन्हें इस स्वर-संगति के मोज़ार्त तथा बिथोवन कहा जा सकता है – वे देवाधिदेव और वज्रधारी देवराज – रामकृष्ण और विवेकानन्द हैं। ....

"मैं यूरोप के सम्मुख रामकृष्ण नामधारी शरद् ऋतु के नये फल, आत्मा के एक नवीन सन्देश, भारत के एक महा-संगीत को ला रहा हूँ। यह दिखाया जा सकता है (और मैं इसे दिखाना भूलूँगा भी नहीं) कि हमारी प्राचीन संगीत प्रतिभाओं के जन्म के समान, यह महासंगीत भी अतीत से संग्रहीत अनेक प्रकार के स्वरों के समावेश से ही बना है। इस सृष्टि के पीछे बहुत-सी पीढ़ियों का अक्लान्त श्रम विद्यमान है। किन्तु यह सब होने पर भी जो सार्वभौम व्यक्तित्व विभिन्न स्वरों के साजबाज को अपने में संग्रहीत करके, उन्हें एक राजसिक स्वर-संगति का रूप देता है, उसका ही नाम उस सृष्टि के ऊपर आरोपित होता है, और उस गौरवमय नाम के द्वारा ही एक नवयुग का निर्देश होता है। ... जिस मनुष्य की मूर्ति की मैं यहाँ स्थापना करना चाहता हूँ, वह तीस करोड़ नर-नारियों के दो सहस्त्र वर्ष-व्यापी आध्यात्मिक जीवन का परिपूर्ण रूप है।"

उपरोक्त पंक्तियों में जितना कुछ रोमाँ रोलाँ ने विश्व को दिया है, उसका एक पक्ष सर्व-धर्म-समन्वय भाव भी है, जिसकी तीव्र अभिव्यक्ति स्वामी विवेकानन्द ने इन शब्दों में की थी, "श्रीरामकृष्ण देव से प्रभावित होकर विश्व के समस्त धर्म एक महान् आध्यात्मिक शक्ति में परिणत होकर सर्वाधिक चरित्र बनाएँगे और यह सर्वाधिक चरित्र वह होगा जहाँ एक ही व्यक्ति में एक कट्टरपन्थी के विश्वास की तीव्रता तथा निरीश्वरवादी की विवेकशील व्यापकता, उदारता एवं सहानुभूति हो; और जिसमें समुद्र की गहराई और आकाश की विशालता दोनों हों।"

श्रीरामकृष्ण देव के सर्व-धर्म-समन्वय दर्शन का आधार उनकी साधना तथा उनका मानव-प्रेम है, जो उनके उपदेशों में नि:सृत हुआ है, "बड़े तालाब में बहुत से घाट होते हैं। किसी भी घाट से उतरने पर एक ही पानी मिलता है। इसलिए "मेरा घाट अच्छा है, तुम्हारा घाट अच्छा नहीं" – इस प्रकार परस्पर झगड़ना निरर्थक है। इसी प्रकार सच्चिदानन्द सरोवर में भी अनेक घाट हैं। सभी धर्म मानो एक-एक घाट हैं। यथार्थ में व्याकुल होकर लगन के साथ इनमें से किसी भी एक घाट के सहारे आगे बढ़ो, तुम अवश्य ही सच्चिदानन्द सरोवर में उतर सकोगे। ऐसा कभी न कहो कि मेरा धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है।" पुन: – "हर व्यक्ति को अपने स्वधर्म का ही पालन करना चाहिए। ईसाई को ईसाई धर्म का, मुसलमान को इस्लाम धर्म का पालन करना चाहिए और हिन्दुओं के लिए प्राचीन आर्य ऋषियों का सनातन मार्ग ही श्रेयस्कर है।" और – "यथार्थ साधक को यही भावना रखनी चाहिए कि दूसरों के धर्म भी सत्य प्राप्ति के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। दूसरे धर्मों के प्रति श्रद्धा का भाव रखना चाहिए।" तथा सर्वाधिक चरित्र गठन के लिए – "मनुष्य को ईसाइयों की तरह दयावान, मुसलमानों की तरह बाह्य विधि-निषेधों के प्रति दृढ़ आस्थावान तथा हिन्दुओं की भाँति सबके प्रति उदार एवं दानशील होना चाहिए।" श्रीरामकृष्ण देव के सार्वभौमिक आकर्षण पर चर्चा करते हुए स्वामी रंगनाथानन्द जी कहते हैं – "श्रीरामकृष्ण देव की दृष्टि में अनेक सम्प्रदायों और धर्मों का अस्तित्व, विश्व-धर्म की अनुभूति करने में सहयोग देता है, बाधा नहीं पहुँचाता। **सम्प्रदायों को इतना गुणित हो जाने दो कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक धर्म बन जाए।** जैसे कोई दो व्यक्तियों की अभिरुचि, प्रत्याशा तथा धारिता में सुनिश्चित एकरूपता नहीं होती, वैसे ही कोई एक धर्म सब लोगों की आकांक्षाओं को पूर्ण सन्तोष नहीं दे सकता। इसलिए सम्प्रदायों को मानवता से मेल खाने तक गुणित होने की आवश्यकता है। किन्तु सम्प्रदायवाद लुप्त हो जायेगा और उसके तिरोधान के साथ-ही-साथ विश्व-धर्म के आदर्शों की अनुभूति होगी। यथार्थ में यह विद्यमान है, कोई इसकी सृष्टि नहीं करेगा, केवल प्रत्येक को अपने स्वयं के लिए इसका अन्वेषण करना होगा। किन्तु साम्प्रदायिकता के तीव्र विसंवादी स्वर-ध्वनि से इसका सुरीलापन बिगड़ा और विकृत हुआ है। जब संसार श्रीरामकृष्ण देव द्वारा अनुप्राणित धर्म-समन्वय के नवीन आदर्श को समझेगा, तब साम्प्रदायिकता लुप्त होगी और मनुष्य, मानव-हृदय की प्रत्येक सद्भावपूर्ण लालसा को प्रकाश एवं सत्य का आग्रह समझ कर देखेगा।" ❑❑❑

अनमोल उक्तियाँ

* आभार-प्रदर्शन कृतज्ञता का क्रियात्मक रूप है। धन्यवाद देने का अभ्यास मन को बुरे विचारों से मुक्त करता है और आनन्द लाता है।

* आकस्मिकता या दुर्घटना जैसा कुछ नहीं है। ये शब्द किसी यथार्थ या प्रत्यक्ष कारण के विषय में मात्र हमारी अज्ञानता सूचित करते हैं।

* ईश्वर से जुड़ जाओ और तब तक जुड़े रहो, जब तक कि उस स्पर्श से ईश्वर का दिव्य चैतन्य तुम्हारे भीतर बहकर तुम्हारी बेहोश होती चेतना को जगा नहीं देता।

श्रीरामकृष्ण की बोध-कथाएँ

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बातें समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान अनेक कथाएँ सुनाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को हम यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं.)

– २६ –

अपना हाथ जगन्नाथ

नदी के तीर पर एक गाँव था। नदी में जब बाढ़ आती, तब गाँव डूब जाता और ग्रामवासियों की बड़ी क्षति होती। वहाँ से दूर जाने का भी कोई उपाय न था, क्योंकि नदी के तट की जमीन बड़ी उपजाऊ थी। लोग उसे छोड़ना नहीं चाहते थे। जमीन के ही लोभ से वे वहीं रहते और बीच-बीच में आनेवाली विपत्तियों को सहा करते।

उसी गाँव में एक किसान रहता था। था तो निर्धन, पर परिश्रम पर्याप्त कर सकता था। उसका भी घर बाढ़ के समय गिर जाता और जो कुछ थोड़ा-बहुत वह बचाकर रखता, उसे जल का प्रवाह बहाकर ले जाता।

गाँव के समीप ही एक टेकड़ी (पहाड़ी) थी। ग्रामवासी किसी अज्ञात भय के कारण उस टेकड़ी के पास नहीं जाते थे। पर इस किसान ने बाढ़ से तंग आकर उस टेकड़ी पर ही घर बनाने का निश्चय किया। उसने टेकड़ी पर मिट्टी से एक झोपड़ी बनायी। झोपड़ी बनी तो मिट्टी की थी, पर किसान ने उसके लिए बड़ा परिश्रम किया था।

झोपड़ी तैयार होने के कुछ दिनों बाद ही जोरों की आँधी आयी। उस प्रबल झंझावात में झोपड़ी चरमराने लगी और उसकी हालत अब-तब होने लगी। यह देख किसान चिन्तित हो उठा और झोपड़ी को बचाने के लिए पवन-देवता से प्रार्थना करने लगा, "पवन-देवता! मुझ गरीब पर रहम करो। झोपड़ी को बचा लो, नहीं तो मैं बेसहारा हो जाऊँगा।"

पर पवन-देवता ने किसान की बात अनसुनी कर दी। वे उसी प्रकार अपनी आँधी से झोपड़ी को डावाँडोल करते रहे। इतने में किसान को एक चालाकी सूझी। उसे ख्याल आया कि हनुमान तो पवन-देवता के तनय हैं। बस, फिर से वह पवन-देवता को सम्बोधित कर गिड़गिड़ाता हुआ चिल्लाने लगा, "हे पवन-देवता, झोपड़ी को मत गिराओ। हनुमान जी ही इस झोपड़ी के मालिक हैं। मैं बारम्बार आपसे अनुनय-विनय करता हूँ कि इस झोपड़ी की रक्षा कर लो।" फिर भी पवन-देवता नहीं माने और झोपड़ी चरमराने लगी।

इतने में उसे ख्याल आया कि हनुमान जी तो श्रीराम के अनन्य सेवक हैं और लक्ष्मण जी उनके छोटे भाई हैं, अत: शायद उन्हीं के नाम से काम बन जाय। वह हताशा के स्वर में जी-जान से चिल्लाकर बोला, "यह घर लक्ष्मण जी का है! देखो, नष्ट मत करना।" लेकिन कोई फल नहीं निकला। अन्त में और कोई उपाय न देख वह मायूसी के स्वर में कहने लगा, "दुहाई रामजी की! यह झोपड़ी रामजी की है, पवन-देवता, इसे तोड़ो मत। मैं तुम्हारे पाँव पड़ता हूँ। इसकी रक्षा करो।" पर इससे भी काम नहीं बना। आँधी के प्रबल झोंके में झोपड़ी बाँस के समान काँपने लगी।

जब किसान ने देखा कि कोई भी देवता प्रार्थना नहीं सुनता और झोपड़ी अब चरमराकर गिरने ही वाली है. तो उसे अपने प्राण बचाने की चिन्ता हुई। अब वह झोपड़ी से बाहर निकल आया और झोपड़ी पर एक लात जमाते हुए बोला, "धत्तेरे की! जा मर! यह शैतान का घर है।"

इस कथा का मर्म यह है कि इस संसार में जो कुछ हुआ है और होता है, वह सब ईश्वर की इच्छा से ही हुआ और होता है! सब उन्हीं की इच्छा से बना, फिर उन्हीं की इच्छा से मिट रहा है। तुम्हारा कर्तव्य है कि चालाकीपूर्वक अपने स्वार्थ-साधन मात्र के लिए ईश्वर के नाम का उपयोग न करके, सब कुछ उन्हीं की इच्छा समझकर अपने सम्पूर्ण मन को ईश्वर में लगाओ – उनके प्रेमसागर में कूद पड़ो।

– २७ –

मृत्यु की कामना

किसी गाँव में एक लकड़हारा रहता था। बड़ी कठिनाई से वह अपना गुजर-बसर कर पाता था। मुँह-अँधेरे ही उठकर वह जंगल चला जाता, दोपहर तक लकड़ियाँ काटता, फिर गट्ठर बाँधकर बाजार ले जाता और उसके विक्रय से जो कुछ मिल जाता, उसे लेकर रात तक घर लौटता। इसके बावजूद बड़ी मुश्किल से इस परिवार को एक जून का अन्न ही जुट पाता। लकड़हारे की पत्नी बड़ी कर्कशा थी। पति के थके-माँदे लौटने पर सहानुभूति के दो शब्द कहना तो दूर, वह उससे हमेशा तुनककर ही बातें करती और प्राय: ही उस पर तानों की बौछार करती रहती। इस परिवारिक जीवन से लकड़हारे का मन खट्टा हो चुका था, परन्तु अपने छोटे-छोटे बच्चों की बात सोचकर वह मन मसोसकर रह जाता।

एक रात लकड़हारे की अपनी पत्नी से खूब कहा-सुनी हो गयी। उसे रात भर नींद नहीं आयी। अगले दिन वह बड़ा अनमना-सा जंगल में गया। वह इस तरह के जीवन से पूरी

तौर से ऊब चुका था। वह प्रतिदिन के समान लकड़ियाँ काट तो रहा था, पर साथ-ही-साथ स्वयं को कोसता भी जा रहा था – 'ऐसी जिन्दगी से तो मौत ही अच्छी है, यमराज आकर मुझे इस दुनिया से उठा लेते, तो कितना अच्छा होता !'

जेठ के दिन थे। धरती और आकाश में मानो सब कुछ तप रहा था, परन्तु लकड़हारे को यह देखने की फुरसत कहाँ थी ! वह तो लकड़ियाँ काटने के बाद, तपती हुई दुपहरी में ही सिर पर गट्ठर लादे नगर की ओर चला जा रहा था। रास्ते में एक सेठजी की हवेली पड़ती थी। उधर से गुजरते समय उसने देखा कि हवेली में कुहराम मचा हुआ है और बाहर सड़क पर लोगों का हुजूम लगा हुआ है। पूछताछ से मालूम हुआ कि सेठजी का इकलौता बेटा अकाल ही चल बसा है।

आगे बढ़ते हुए लकड़हारा फिर अपने भाग्य को कोस रहा था – "यम-देवता, तुम भी कैसे निष्ठुर हो? जो जीने के सारे साधनों से लैश हैं, उन्हें तो तुम मार डालते हो और हम जैसे अभाव-ग्रस्तों के मरने की चाह पूरी नहीं करते !"

पसीने से लथ-पथ लकड़हारा थोड़ी राहत के लिए एक वृक्ष के नीचे रुका। प्यास के मारे उसका गला सूख रहा था। सिर का गट्ठर उसने एक किनारे पटक दिया और सुस्ताते हुए अपनी शीघ्र मौत की कामना करता रहा।

थोड़ी ही देर में उसने देखा कि भैंस पर सवार एक हट्ठा-कट्ठा आदमी उसी की ओर चला आ रहा था। उसका रंग काला और आँखें लाल-लाल थीं। उसके हाथ में एक मोटा लट्ठ भी था। उस व्यक्ति को देखते ही लकड़हारे के सारे शरीर में सिहरन दौड़ गयी। उसने सोचा – यह भयानक आगन्तुक जल्दी आगे बढ़ जाय, तो वह चैन की साँस ले।

परन्तु वह तो ठीक लकड़हारे के पास आकर ही अपने भैंस से उतर पड़ा और अपनी लाठी को जोरों से जमीन पर पटकते हुए बोला – "तुम मुझे क्यों याद कर रहे थे?" लकड़हारे की तो सिट्टी-पिट्टी ही गुम हो गयी। वह हड़बड़ा कर बोला, "मैं ... ! कौन हैं आप? मैंने तो आपको कभी याद नहीं किया।" वह व्यक्ति गरजते हुए बोला, "क्यों? अभी तो तुम कह रहे थे कि यमराज भी आकर मुझे क्यों नहीं ले जाते ! तो फिर चलो मेरे साथ।"

लकड़हारे के हाथों के तोते उड़ गये, उसे काटो तो खून ही नहीं। वह हकलाते, गिड़गिड़ाते हुए बोला, "हाँ, हाँ, मैं आपको याद तो कर रहा था। असल में बात यह है कि मेरा यह लकड़ी का गट्ठा बहुत ही भारी है और मेरे लिए उसे अकेले उठाकर सिर पर रख पाना असम्भव लग रहा था, इसीलिए मैं आपको याद कर रहा था। बड़ी कृपा होगी, यदि आप थोड़ा सहारा देकर इसे मेरे सिर पर रखवा सकें।" यमराज ने वैसा ही किया।

लोग बातें तो बड़ी-बड़ी करते हैं, परन्तु जब वास्तविकता से सामना होता है, तो पीछे हट जाते हैं।

– २८ –

मोहि कपट छल-छिद्र न भावा, गुरु में विश्वास

किसी गाँव में एक ब्राह्मण शिक्षक थे। वे अपने पास-पड़ोस के बच्चों को पढ़ाकर अपनी आजीविका चला लेते थे। एक बार उनके पुत्र का अन्नप्राशन संस्कार होना था। वे बड़े चिन्तित थे। उनके अनेक शिष्य भी थे। शिष्यों ने गुरुजी को दिलासा देते हुए कहा, "आप जरा भी चिन्ता न करें, हम लोग सब कुछ सँभाल लेंगे।"

उनके शिष्यों में एक निर्धन विधवा भी थी। उसके एक गाय थी। निर्धनता के कारण वह ज्यादा कुछ नहीं कर सकती थी। गुरुजी ने सोचा था कि उत्सव के सारे दूध-दही का भार वही ले लेगी, पर वह केवल एक लोटा दूध लेकर आयी। उसे देख गुरुजी क्रोधित हो उठे। उन्होंने उस लोटे को उठाकर पटक दिया और शिष्या से बोले, "तू पानी में डूबकर मर क्यों नहीं गयी?"

शिष्या को बड़ा दुख हुआ। गुरु के प्रति उसकी असीम भक्ति थी। उसने सोचा कि गुरुदेव का मेरे लिए शायद यही आदेश है। ऐसा सोचकर वह नदी के किनारे जा पहुँची। जैसे ही वह नदी में छलाँग लगाने जा रही थी, साक्षात् भगवान उसके सामने प्रकट हुए। उन्होंने विधवा को दही का एक बर्तन देते हुए कहा, "मैं तेरी गुरुभक्ति पर बड़ा प्रसन्न हूँ। यह बर्तन ले जा, यह कभी खाली नहीं होगा। इससे तू जितना भी दही निकालेगी, यह पुनः भरता जायेगा। इसे पाकर तेरे गुरु सन्तुष्ट हो जायेंगे।"

शिष्या वह बर्तन लेकर पुनः गुरुदेव के पास पहुँची और उन्हें सब कुछ कह सुनाया। सुनकर गुरुजी दंग रह गये और शिष्या के साथ नदी के तट पर जाकर बोले – "यदि तू मुझे नारायण का दर्शन नहीं कराएगी, तो मैं इसी जल में कूदकर प्राण दे दूँगा।" शिष्या की कातर प्रार्थना सुनकर नारायण प्रकट हुए, परन्तु गुरु उन्हें न देख सके। विधवा बोली, "प्रभो, यदि आप गुरुदेव को दर्शन नहीं देगे और यदि उन्होंने प्राण त्याग दिये, तो मैं भी आत्महत्या कर लूँगी।" भक्त की कामना पूरी करते हुए नारायण ने एक बार प्रगट होकर गुरु को भी दर्शन दिया।

श्रीरामकृष्ण कहते हैं – "देखो, गुरु-भक्ति रहने से स्वयं को और गुरुदेव को भी दर्शन हुआ। इसलिए कहता हूँ – 'मेरे गुरु यदि शराबखाने में भी जाते हों, तो भी वे मेरे लिए साक्षात् नित्यानन्द राय हैं।' सरल विश्वास से सब कुछ हो सकता है।"

❖ (क्रमशः) ❖
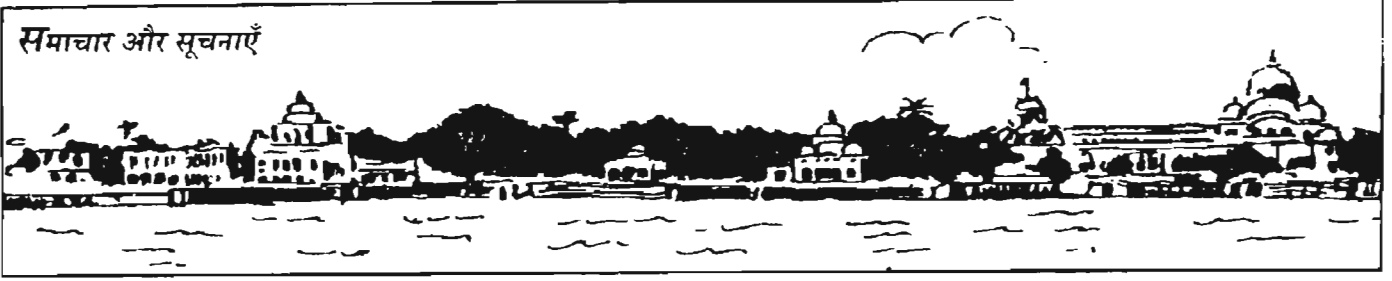
युवा-शिविर में विचार-मन्थन

४ जनवरी, २००४ को श्रीमाँ सारदा देवी के १५०वें आविर्भाव-दिवस के अवसर पर रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर में एक युवा-शिविर का आयोजन हुआ। शिविर के विभिन्न कार्यक्रमों में एक था प्रतिभागी-युवाओं के बीच समूह-चर्चा। इस समूह-चर्चा के सत्र में संचालकों द्वारा प्रदत्त विभिन्न विषयों पर प्रतिभागियों ने निर्भय होकर, उन्मुक्त हृदय से बुद्धिमत्तापूर्वक अपने मत व्यक्त किये तथा प्रेरणाप्रद व्यवहारोपयोगी विचार-पुष्प प्रस्तुत किए। उन्हीं मूल्यवान विचारों को हम यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत कर रहे हैं –

१७५ प्रतिभागियों को कुल ११ दलों में विभक्त किया गया था। युवकों के ७ दल और युवतियों के ४ दल थे।

पहले युवा-दल का विषय था – **'राष्ट्र-निर्माण में युवकों का योगदान'**। दलनायक मुनिस्वामी ने इस दल की रिपोर्ट में बताया – "युवकों को राष्ट्रप्रेम एवं राष्ट्र-निर्माण की शिक्षा हेतु सुयोग्य आदर्श शिक्षकों की जरूरत है, जिससे युवक सुशिक्षित होकर देश के प्रति अपने कर्तव्य का बोध कर उत्साह तथा उद्यम के साथ राष्ट्र-निर्माण में अपना जीवन सहर्ष अर्पित कर सकें। उन्हें सदैव सकारात्मक विचारों से अपने मन को परिपूर्ण रखना चाहिए तथा छोटे-छोटे सेवा के अवसरों को भी हाथ से नहीं जाने देना चाहिए।"

दूसरे युवा-दल का विषय था – **'मैं अपने चरित्र का निर्माण कैसे करूँ?'** इसके दलनायक प्रकाश चन्द्राकर ने कहा – "हम अपनी अन्तर्निहित शक्ति को अभिव्यक्त कर, अपने सद्‌गुणों को विकसित करके अपना चरित्र-निर्माण कर सकते हैं। परोपकार, सेवा, विनम्रता, शिष्टाचार एवं सबके प्रति सद्व्यवहार के द्वारा सच्चरित्र का निर्माण होता है। हम बुरे विचारों तथा आदतों को छोड़कर भली आदतों का अभ्यास करें और सदा सकारात्मक चिन्तन करें।"

तीसरे युवा-दल के नायक थे कुलदीप यदु और इसका विषय था – **'मैं भारत का उत्तरदायी नागरिक कैसे बनूँ?'** उन्होंने अपने विवरण में अनेक महापुरुषों का उदाहरण देते हुए कहा – "हम छात्र से अच्छे छात्र बनें। उसी प्रकार एक नागरिक से अच्छे उत्तरदायी नागरिक बनें। हमारी कथनी-करनी समान हो। हमारे चिन्तन, हमारी वाणी और हमारे क्रिया-कलापों तथा आचरण में समानता हो। हमें नि:स्वार्थता, कर्तव्य-परायणता, सौहार्दता एवं परोपकारादि गुणों को अपने जीवन में विकसित करना होगा। छात्रों को भौतिक शिक्षा के साथ-साथ नैतिक शिक्षा एवं सुसंस्कार की शिक्षा भी दी जानी चाहिए, ताकि वे स्वावलम्बी एवं कर्तव्य-परायण होकर राष्ट्र की गरिमा से अवगत हों तथा उसके प्रति कर्तव्यनिष्ठ बन सकें। पाश्चात्य संस्कृति का जो अंश हमारे राष्ट्र के विकास में उपयोगी है, उसे अवश्य लायें, पर भारतीय संस्कृति को भी अवश्य हृदयंगम करें। देश की आजादी के लिए कितने वीर-जवानों ने अपना वलिदान किया। हमारे वीर सैनिक आज भी देश की सीमाओं की रक्षा कर रहे हैं। हम देश के लिए जीना सीखें। देशवासियों को शिक्षा, संस्कृति, कला, स्वास्थ्य, स्वच्छता एवं समृद्धि की शिक्षा दें। उनके जीवन को सुखमय बनाने का प्रयास करें एवं उनसे सहयोग करें।"

चौथे युवा-दल का विषय था – **'मेरे जीवन का लक्ष्य क्या हो?'** इसके दलनायक निखिल अग्रवाल ने कहा – "प्रारम्भ में अध्ययन द्वारा सत्‌शिक्षा प्राप्त कर समाज का विकास, राष्ट्र की उन्नति और स्वयं का पूर्ण विकास करना हमारा लक्ष्य होना चाहिए। अपने ऊँचे विचारों द्वारा चरित्र-निर्माण और दीन-दुखियों की सेवा से आत्मसाक्षात्कार करके आनन्द की अनुभूति करना एवं समस्त संसार में आनन्द को वितरित करना ही हमारे जीवन का लक्ष्य होना चाहिए।"

पाँचवें युवा-दल के नायक मनीष दूबे ने **'२०२० का भारत'** विषय पर सकारात्मक दृष्टि से अपनी रीपोर्ट प्रस्तुत करते हुये कहा – "२०२० का भारत जातिवादहीन होगा। सभी परिश्रमी एवं व्यस्त होंगे। महिलाएँ सुशिक्षित, सबल एवं आत्मनिर्भर होंगी। भारत की आर्थिक स्थिति सशक्त एवं राजनैतिक स्थिति सुदृढ़ होगी। अमीर-गरीब, जाति-धर्म की खाई पटेगीं, वैज्ञानिक विकास होगा तथा प्राचीन राष्ट्र-विरोधी सामाजिक रूढ़ियाँ नष्ट होंगी। धर्म-संस्कृति के साथ वैज्ञानिक प्रगति होगी। पुन: भारत की आध्यात्मिक शक्ति सम्पूर्ण विश्व में प्रेम, शक्ति और सौहार्द का विस्तार करेगी।"

छठें युवा-दल के नायक अमित केसरवानी ने **'मेरे जीवन में धर्म का स्थान'** विषय पर कहा – "जो धर्म हममें समाज व देश के प्रति श्रद्धा व आस्था जाग्रत करे, जो धर्म आपस में बन्धुत्व, मानव-मानव में प्रेम तथा सद्‌भावना विकसित करे, हममें मानवीय गुणों का विकास करे, प्राणी मात्र के प्रति दया की भावना उत्पन्न करे, जो हमें कर्तव्य एवं

उत्तरदायित्वों की प्रेरणा देकर ईश्वरीय आनन्द की ओर उन्मुख करे, वह धर्म अवश्य ही वरेण्य एवं हृदयग्राह्य है।''

सातवे दल नायक अतुल देशकर ने **'युवकों में देश और समाज के प्रति कर्त्तव्य के विषय में जागृति लाने में मेरी भूमिका'** के महत्त्वपूर्ण विषय पर दल की रीपोर्ट प्रस्तुत की – ''देश और समाज के प्रति कर्तव्यनिष्ठ बनाने के लिए बाल्यावस्था से ही चेष्टा होनी चाहिए। बाल-विकास संस्था बनाकर उन्हें देशप्रेम और सामाजिक कर्त्तव्यों की शिक्षा प्रदान करनी चाहिए। जाति-धर्म से ऊपर उठकर समस्त देशवासियों को प्रेम और सद्भावना की शिक्षा दें। गैर-राजनीतिक संगठन बनाकर देश और समाज के प्रति युवकों को जगायें। स्वामी विवेकानन्द की शिक्षानुसार 'मस्तिष्क, हृदय और हाथ' – इन तीनों का समुचित विकास करें तथा स्वामीजी के ही अनुसार – Be and make – स्वयं के चरित्र का निर्माण कर दूसरों के चरित्र का निर्माण करें। देश और समाज के प्रति समर्पित महान् व्यक्तियों के जीवन-चरित की जानकारी देकर युवकों को प्रेरित करें। युवा वर्ग को एक साथ बैठकर सामाजिक समस्याओं के समाधान हेतु विचार-मन्थन करना चाहिए। प्रत्येक माह युवा-सम्मेलन का आयोजन कर युवकों में कर्तव्य-बोध जाग्रत करना चाहिए।''

प्रथम युवती-दल की नायिका कुमारी ममता मिश्रा थीं। इनके दल का विषय था – **'राष्ट्र के निर्माण में नारी का योगदान'**। अपने दल की रीपोर्ट में उन्होंने कहा – ''समाज के लोगों का एक समूह राष्ट्र है। समाज छोटे-छोटे परिवारों का समूह है और इन सबकी धुरी या केन्द्र है – नारी। यदि नारी सुशिक्षित, सुसंस्कृत और कार्यकुशल हो, तो परिवार का चतुर्दिक विकास होगा और ऐसे परिवार एक सुसंस्कृत सशक्त समाज व राष्ट्र का निर्माण करने में सहायक होंगे।''

द्वितीय युवती-दल की नेत्री कुमारी हिमानी अग्रवाल ने **'मेरा जीवन कैसे सफल हो'** विषय पर अपने दल की रीपोर्ट में कहा – ''भारतीय संस्कृति आदिकाल से नारियों का सम्मान करती चली आ रही है – **यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:'**। दुर्गा, सरस्वती, काली, लक्ष्मी और अन्नपूर्णा के रूप में नारी सर्वदा श्रद्धा-पूजा की पात्र रही है। अत: नारी के जीवन में सेवा, दया, क्षमा और प्रेम का पूर्ण विकास हो, तभी उसका जीवन सफल हो सकता है। माँ सारदा इसकी साक्षात् मूर्ति हैं। हमारा जीवन इतना सबल हो कि जरूरत पड़ने पर नारी रानी लक्ष्मीबाई और रानी दुर्गावती की तरह अपने राष्ट्र के आन-मान हेतु युद्ध-क्षेत्र में अपना कौशल दिखा सके। नारी को अपने जीवन में ईश्वर-प्रदत्त गुणों का विकास करना होगा एवं दूसरों के जीवन में भी इसके विकास में सहायता करनी चाहिए। एक नारी ही सफल राष्ट्र-निर्मात्री होती है, क्योंकि माँ ही बच्चों की प्रथम शिक्षिका होती है। इस प्रकार नारी अपने जीवन में दैवी गुणों का विकास कर तथा उसे राष्ट्र के प्रत्येक प्राणी की सेवा में लगाकर अपने परिवार, समाज और देश की उन्नति में सहायता कर अपने जीवन को सफल बना सकती है।''

तृतीय युवती-दल की नायिका थीं कुमारी कल्पना मिश्रा तथा विषय था – **'हमारी शिक्षा कैसी हो?'** इन्होंने अपने रीपोर्ट में कहा – ''हमारी शिक्षा ऐसी हो, जो गाँधीजी के अनुसार 'व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास' करे। हमारी शिक्षा स्वामी विवेकानन्द जी के अनुसार हो, जो मनुष्य का शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास कर सके। शिक्षा परिस्थिति से समायोजन सिखाए, भागना नहीं। शिक्षा व्यावसायिक, स्वरोजगार-मूलक हो, आत्मनिर्भरशील हो, नैतिक मूल्य शिक्षा का प्रमुख भाग हो तथा गुरुकुल पद्धति लागू हो। शिक्षा बोझिल और उबाऊ न हो। शिक्षा केवल पुस्तकीय ज्ञान न हो, अपितु व्यावहारिक एवं सकारात्मक सोच वाली हो। शिक्षा-केन्द्रों में हिंसा अभद्रता न हो, शिक्षा का केन्द्र विद्यार्थी हो। छात्र-शिक्षक के सम्बन्ध मधुर हों तथा उनमें अध्ययन-अध्यापन की रुचि हो। परीक्षा में ग्रेड सिस्टम हो, नये-नये विधियों से शिक्षा प्रदान की जाय। शिक्षा परस्पर प्रेम, मैत्री और सद्भावना विकसित करे। राष्ट्र के प्रति कर्तव्यों के परिपालन में सहायक हो। शिक्षित व्यक्ति परिवार, समाज और देश के प्रति स्वयं अपने कर्त्तव्यों का पालन करें और समाज को भी ऐसी शिक्षा प्रदान करें।''

चौथे युवती-दल की नेत्री कुमारी वन्दना राठौर ने **'वर्तमान नैतिक समाज के निर्माण में नारी की भूमिका'** विषय पर अपने दल की प्रस्तुति में कहा – ''सभी क्षेत्रों में नारी का योगदान है। वह प्रथम गुरु है। वह प्रेम, त्याग की प्रतिमूर्ति है। परिवार-सुख, समाज-सेवा तथा राष्ट्र के नव-निर्माण में नारी का उल्लेखनीय योगदान है। पुरुष की सफलता के पीछे नारी का योगदान है। नारी 'लेकर नहीं देकर' की नीति अपनाती है। समाज में नैतिकता और आदर्श की स्थापना में नारी अग्रणी है। नारी में सबको लेकर चलने की क्षमता है। छोटे-से लेकर बड़े – हर कार्य को नारियों ने सुचारु रूप से कर दिखाया है। नारी देवी तुल्य है और यह अपने सौम्य सद्गुणों से सर्वदा समाज का कल्याण करती रहती है।''

इसके बाद डॉ. ओमप्रकाश वर्मा ने व्यक्तित्व-विकास पर प्रेरक व्याख्यान दिया। शिविर का निर्देशन तथा सत्र की अध्यक्षता स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने तथा संचालन स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया। ❑❑❑

विवरण प्रस्तुति – राजीव दास और विवेक बैस (विवेकानन्द विद्यार्थी भवन, रायपुर)